मुद्रक—

पं० श्रीकमलाकर पाठक

स्थान—

कर्मवीर प्रेस, जबलपुर।

सूची

उपहार

....

....

....

प्राक्कथन

१

हिन्दी हिन्दू-जाति की भाषा है। वह एक प्रदेश की नहीं, समस्त देश की भाषा है, यह बात इसके नाम से ही—हिन्दी शब्द से ही—ध्वनित होती है। हिन्द का अर्थ है हिन्दू-जाति की भूमि। सच्ची बात यह है कि हिन्दी उस प्रदेश की भाषा है जो प्राचीन काल से लेकर आज तक भारतीय-संस्कृति का प्रधान केन्द्र-स्थल रहा है। हिन्दू-जाति के सब से अधिक प्रसिद्ध तीर्थ स्थान इसी प्रदेश में हैं। सभी प्रान्तों के निवासी और सभी धर्मों के अनुयायी यहाँ आते जाते रहते हैं। यही कारण है कि हिन्दी-भाषा से भारत के प्रायः सभी लोग परिचित रहते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं की अपेक्षा इसका क्षेत्र भी विशेष विस्तृत है। पंजाब से लेकर बंगाल तक और आसाम से लेकर विन्ध्याचल के दूसरे पार तक यही भाषा प्रचलित है। इसी से भारतीय-भाषाओं में समस्त देश की, हिन्दुस्तान की भाषा यही कही जा सकती है।

उपहार
....
....
....

वाणी और अर्थ सदैव संयुक्त ही रहेंगे। भाषा हमारे पूर्वजों की उपार्जित सम्पत्ति है। इसी के द्वारा हम अपने पूर्वजों के संग्रहीत ज्ञान का उपार्जन कर सकते हैं। अतएव हमें इस सम्पत्ति की रक्षा सदैव यत्नपूर्वक करनी चाहिए। परन्तु यह सम्पत्ति ऐसी नहीं है कि हम इसे कोष में सुरक्षित रख सकें। यदि हम अपनी भाषा की वृद्धि नहीं कर सकते तो उसकी रक्षा करना भी हमारे लिए असम्भव है।

संसार परिवर्तनशील है क्योंकि वह उन्नतिशील है। स्थिरता जड़त्व का सूचक है। जो जड़ नहीं, वे जङ्गम हैं; उनकी गति अवरुद्ध नहीं होती। मानव-जीवन का जो स्रोत अनादिकाल से बह रहा है वह उद्देश्य-हीन नहीं है। वह किसी एक लक्ष्य की ओर जा रहा है। अब तक असंख्य मनुष्य इस स्रोत में बहकर काल के अनन्त-गर्भ में लीन हो गये हैं, परन्तु वे इस स्रोत में अपना चिन्ह छोड़ गये हैं। उनके मत और विचार भारत के रूप में अभी तक वर्तमान हैं। अनन्त-काल से मनुष्य अपने भावों को अभिव्यक्ति के लिए चेष्टा करते आ रहे हैं। हमारी वर्तमान भाषा उसी का परिणाम है। मनुष्य के साथ भाषा की उत्पत्ति हुई है और उसी के साथ उसका विकास हुआ है। भाव से भाषा को अब हम पृथक् नहीं कर सकते। इसीलिए किसी भी भाषा की उत्पत्ति या विकास पर विचार करते समय हमें उन भावनाओं पर भी ध्यान देना होगा जिनके कारण उस भाषा का रूप स्थिर हुआ है।

भाषा में परिवर्तन अवश्यम्भावी है, क्योंकि उसका सम्बन्ध जीवित मनुष्य-समाज से है। सभी देशों और सभी कालों में भाषा में परिवर्तन होते रहते हैं। यह परिवर्तन किसी की इच्छा पर निर्भर नहीं है। आर्यों की जो प्राचीन वैदिक-भाषा शताब्दियों के परिवर्तन के बाद आधुनिक हिन्दी के रूप में परिणत हुई है वह किसी मण्डली अथवा परिषद् के कारण नहीं। सच तो यह है कि जब

पहली अवस्था में उसे किसी मृत-भाषा का प्रभाव दूर करना पड़ता है। दूसरी अवस्था में उसको विदेशी भाषाओं के संसर्गज दोषों को निर्मूल करना पड़ता है। तीसरी अवस्था में वह अपनी ही कृत्रिमता को दूर कर स्वाभाविक रूप ग्रहण करती है। यह बात सभी देशों में देखी जाती है। योरप में एक हजार वर्ष तक लैटिन भाषा ही साहित्य की भाषा थी। विज्ञान, दर्शन, धर्मशास्त्र, इतिहास, भूगोल आदि सभी विषय लैटिन भाषा में ही लिखे जाते थे। लैटिन भाषा का प्राधान्य आधुनिक युग के आरम्भ तक था। बेकन, स्पाइनोजा, न्यूटन आदि विद्वानों तक ने लैटिन भाषा में रचनायें की हैं। आधुनिक युग के विख्यात दार्शनिक वर्गसन ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ-काल और इच्छा-शक्ति—को लैटिन भाषा में ही लिखा है। यही हाल भारतवर्ष का भी हुआ। संस्कृत-भाषा बौद्ध-युग के आरम्भ काल में ही, ईसा के कोई ६०० वर्ष पहले से ही, जन-साधारण से पृथक् हो गई थी। परन्तु भारतवर्ष में ईसा की अठारहवीं शताब्दी तक विद्वानों ने उसी में श्रेष्ठ ग्रन्थों की रचना की है। हिन्दी में केवल धार्मिक कवितायें ही लिखी गईं। मृत-भाषा का प्राधान्य घट जाने पर भी कारणवश किसी किसी को विदेशी भाषा का प्रभुत्व स्वीकार करना पड़ता है। मुसलमानों के शासन काल में फारसी का प्रभुत्व हिन्दी को स्वीकार करना पड़ा। अब अंगरेजों का प्रभुत्व होने पर अंगरेजी-भाषा ने ही शिक्षित समाज पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया है। अंगरेजी-भाषा के माया-जाल को तोड़ कर बङ्गाल के शिक्षित समाज ने अपने प्रान्त में एक नवीन साहित्य की सृष्टि की है। उसकी उत्तरोत्तर उन्नति भी हो रही है। परन्तु हिन्दी में साहित्य का निर्माण अभी तक अर्ध-शिक्षित लोगों के ही हाथों से हो रहा है। इसीसे उसमें मौलिकता, नवीनता, शक्ति का अभाव है। इसी से हिन्दी भाषा में विचित्र भावों को सरलता पूर्वक व्यक्त करने की शक्ति नहीं आई है। उसमें कृत्रिमता ही बढ़ रही है।

भाषा का सम्बन्ध मनुष्य के अन्तर्जगत् से है। वह उसकी अन्तर्भावनाओं का बाह्य रूप है। ज्यों ज्यों उसकी अन्तर्भावनाओं में परिवर्तन होगा त्यों त्यों भाषा का स्वरूप भी परिवर्तित होगा। देश, काल, विदेशी जातियों का सन्निपात, ये सब भाषा के परिवर्तन में सहायक हैं, परन्तु भाषा पर सब से अधिक स्थायी-प्रभाव धर्म का पड़ता है। पृथ्वी पर जब जब किसी नवीन धर्म का प्रचार हुआ है तब तब उस धर्म के साथ किसी भाषा-विशेष की उन्नति हुई है। बौद्ध-धर्म के साथ पाली का प्रचार हुआ। जैन-धर्म के साथ-अर्ध मागधी की वृद्धि हुई। हिन्दू-धर्म के साथ तो संस्कृत का दृढ़ सम्बन्ध है। मध्ययुग में पोप के अभ्युदय से रोम धर्म का भी केन्द्र स्थान हो गया। इसी के साथ लैटिन भाषा भी देव-भाषा हो गई। रोम के धर्म-शासन के साथ साथ लैटिन भाषा का भी प्रभुत्व बढ़ा। हिन्दी पर संस्कृत भाषा का जो आधिपत्य है उसका कारण हिन्दू-धर्म भी है। [illegible]-धर्म के विरुद्ध हिन्दी में भी आन्दोलन हुआ है। वैष्णव-धर्म के आचार्यों ने ज्ञान और कर्म के ऊपर भक्ति का प्राधान्य प्रतिष्ठित कर हिन्दी-भाषा को मानो स्वतन्त्रता दे दी। [illegible] देव-वाणी में ही [illegible] भक्ति-[illegible] में भी [illegible] हो गया।

[illegible] में परिवर्तन [illegible] परिवर्तन- [illegible] प्रकृति [illegible] और न स्थिर [illegible] भाषा पर [illegible] [illegible] युग, [illegible]-युग [illegible]-युग की भाषा [illegible]

के लिये किसी धर्म-शास्त्र को देखने की आवश्यकता नहीं थी। राम, सीता, लक्ष्मण, अर्जुन, युधिष्ठिर, कृष्ण, भीष्म, सावित्री, द्रौपदी, आदि के चरित्रों से ही वे अपना कर्तव्य समझ लेते थे। सभी हिन्दू-कवियों ने इन्ही देव-तुल्य नायकों के उदात्त चरित्रों का वर्णन किया है। आधुनिक साहित्य ने अब अपना लक्ष्य अवश्य बदल दिया है। उसका कारण यह है कि अब समाज की अपेक्षा व्यक्तित्व के विकास पर अधिक ध्यान दिया जाता है। अब आदर्श-चरित्र की अपेक्षा चरित्र-वैचित्र्य की ओर कवियों की दृष्टि जाने लगी है। भारतवर्ष की परिस्थिति परिवर्तित हो गई है। पाश्चात्य-सभ्यता के प्रभाव से उसके समाज में नई समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं। कितने ही धार्मिक-अनुशासन अब बन्धन प्रतीत होने लगे हैं। इसीसे अब धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन हो रहे हैं। ये सब आधुनिक साहित्य में प्रतिबिम्बित होंगे और प्रतिभाशाली कवियों के द्वारा उन चरित्रों का निर्माण होगा जिनसे समाज की समस्यायें हल हो जायंगी। परन्तु ये चरित्र हिन्दू-समाज के अन्यतम आदर्श नहीं होंगे। हिन्दू-समाज में इनकी पूजा नहीं हो सकती। हिन्दू-समाज के उपास्य देव प्राचीन-साहित्य के ही चरित्र बने रहेंगे। हिन्दू के हृदय-मंदिर में राम और सीता की ही पूजा होती रहेगी और उन्हीं से हिन्दू-समाज जीवित रहेगा।

साहित्य के साथ समाज का यही सम्बन्ध है। दोनों का प्रभाव एक दूसरे पर पड़ता है। अतएव काव्यों की समालोचना में इसी सम्बन्ध पर ध्यान रखना चाहिए। कल्पना के विकास में, शक्ति के गति-सञ्चालन में, और मानवीय चेष्टा को उत्साहित करने में कविता ने वही काम किया है जो विज्ञान ने किया है। कविता केवल कल्पना-प्रसूत भावों की अभिव्यक्ति ही नहीं है। वह तत्कालीन समाज की शक्ति का उद्बोधक भी है। उसके दो रूप हैं—शक्ति और कला। कभी

किसी भी साहित्यिक-ग्रन्थ की समीक्षा दो प्रकार
की जा सकती है—एक तो कला की दृष्टि से और दूसरे इतिहास व
दृष्टि से। कला की दृष्टि से विचार करने पर कोई ग्रन्थ स्वयमेव पू
ज्ञात होता है। कला की दृष्टि से हम ग्रन्थ के अंतर्गत मूलभाव के
वाह्य संसार पर दृष्टि-निक्षेप किये बिना ही, समझ सकते हैं। उ
समय कवि की सृजन-शक्ति पर ही हमारा ध्यान रहता है। परन
ऐतिहासिक रीति से जब हम उस पर विचार करेंगे तब हम उस ग्रन्थ क
मूलभावना में भी कार्य-कारण का सम्बन्ध देख सकेंगे। तब हम
कवि के व्यक्तित्व के साथ ही साथ तत्कालीन समाज की स्थिति प
भी विचार करना पड़ेगा, क्योंकि उसी स्थिति में रहकर कवि के
व्यक्तित्व का विकास हुआ है।

इतिहास में हम मुसलमानों के आक्रमण का हाल पढ़ते हैं, उनके वैभव और साम्राज्य-विस्तार की कथा जान लेते हैं और यत्र तत्र नानक, रामानन्द, कबीर, शिवाजी आदि हिन्दू-वीरों का भी परिचय पाते हैं। परन्तु हिन्दू-जाति स्वयं कहाँ थी, इसका कुछ पता नहीं लगता। जिस जाति में शिवाजी और चैतन्य उत्पन्न हो सकते थे वह जाति मृत नहीं हो सकती। परन्तु तत्कालीन हिन्दू-जाति की जीवन-धारा कहाँ बह रही थी, इसका उल्लेख भारतीय इतिहास में नहीं है, भारतीय साहित्य में है। अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी-साहित्य की पर्यालोचना करना आवश्यक है।

साहित्य में कार्य-कारण का नियम उतना ही व्यापक है जितना बाह्य जगत् में। संसार में जब कोई कार्य होता है तब उसका एक कारण भी होता है। साहित्य में भी सहसा किसी ग्रन्थ की सृष्टि नहीं हो जाती। कोई भी ग्रन्थ हो, उसके निर्माण में तत्कालीन समाज के धार्मिक विचार और संस्कार खूब काम करते हैं। कवि शून्यता से सामग्री नहीं प्राप्त कर सकता। उसके लिए एक विशेष स्थिति की आवश्यकता होती है। सच तो यह है कि जब तक उसके लिये समाज प्रस्तुत नहीं है, तब तक उसकी सृष्टि ही नहीं होती। जो भावनाएं कवि के काव्य के लिये उपजीव्य हैं वे समाज में पहले ही प्रचलित हो जाती हैं। यदि तुलसीदास के पहले भक्ति की भावना प्रबल नहीं होती तो रामचरितमानस की सृष्टि भी नहीं हो सकती थी। वह भक्ति-भावना भी किसी कारण का परिणाम है। वह कारण क्या है, यह जानने के लिये हम तत्कालीन और उसके पूर्ववर्ती इतिहास पर दृष्टि डालनी होगी। इस प्रकार मनुष्य के विचार-स्रोत पर ध्यान देने से हमें स्पष्ट रूप से यह मालूम हो जायगा कि

उसमें कितना सत्य है और इतिहास की घटनाओं से उसका क्या सम्बन्ध है। साहित्य से इतिहास स्पष्ट होता है और इतिहास से साहित्य। इसीलिये इतिहास की पर्यालोचना में साहित्य की समीक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है। योरप में विद्वानों ने ऐसी समालोचना का प्रचार किया है। साहित्य की इस समीक्षा से गत सौ वर्षों में जर्मनी और फ्रांस के इतिहास का स्वरूप ही बदल गया। विद्वानों ने मान लिया कि साहित्य केवल कल्पना का क्रीड़ा-स्थल नहीं है और न वह उत्तेजित मस्तिष्क की तृप्ति-मात्र है। वह अपने काल के मानसिक विकास का चित्र है। अतएव साहित्य के सहारे हम अतीत काल के मनुष्य का अन्तस्तल गूढ़ रहस्य जान सकते हैं।

जब हमारे हाथ में कोई किताब आती है तब सबसे पहले हम यही करते हैं कि इसकी रचना कहाँ नहीं हो गई। जिस प्रकार [illegible]

[illegible]

नष्ट हो जाने पर, उसके साहित्य से यह जाना जा सकता है कि उसकी जीवन धारा किधर बह रही थी। अस्तु।

साहित्य के विकास में तीन मुख्य कारण हैं; जातीय संस्कार, देश और काल। जातीय संस्कार वे हैं जो किसी विशेष जाति के सभी व्यक्तियो में पाये जाते है। अपने इन्हीं संस्कारों के कारण मनुष्य जाति से कोई जाति पृथक की जा सकती है। देश और काल के व्यवधान से भी ये संस्कार सर्वथा नष्ट नहीं हो जाते। एक आर्य जाति का ही उदाहरण लीजिये। आर्य जाति की अनेक शाखाएँ हो गई हैं। वे अब भिन्न भिन्न स्थानों में रहने लगी हैं। सैकड़ो वर्षों से वे एक दूसरो से पृथक हो गई हैं तो भी उनका मूल भाव नष्ट नही हुआ है। आर्य जाति की सभी शाखाओ मे वह मूल भाव विद्यमान है जिसके कारण आज भी वे सभी अपने को आर्य जाति मे सम्मिलित करा सकतो हैं।

भारतवर्ष के साहित्य और कला मे आध्यात्मिक भावो की जो प्रधानता है उसका कारण यह देश ही है। काल का प्रभाव दो रूपो मे व्यक्त होता है। जाति भविष्य के लिये जो सामग्री छोड जाती है उसका उपयोग कर कालान्तर मे उसकी सन्तान साहित्य की श्री-वृद्धि करती है। इसके साथ ही भिन्न भिन्न जातियो के पारस्परिक संघर्षण से जो उत्क्रान्ति उत्पन्न होती है उसका भी प्रभाव साहित्य पर चिराङ्कित हो जाता है। वर्तमान हिन्दो साहित्य पर प्राचीन आर्य जाति का प्रभाव स्पष्ट है। उसी प्रकार उस पर इस्लाम सभ्यता एव आधुनिक योरोप का भी प्रभाव विद्यमान है। इन सब प्रभावों से जाति की जो उन्नति और अवगति होती है वह उसके साहित्य में स्पष्ट रूप से दिखाई पडती है।

भारतीय साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ वेद हैं। व
जगत के साथ मनुष्यों का सम्पर्क होने से उनके हृदय
हर्ष और विस्मय, आधार और आतङ्क की जो भावना
उद्भूत होती हैं वे उनमें विद्यमान हैं। भावों की विशदता
और भाषा की शक्ति में वैदिक मन्त्रों के साथ संसार के
किसी भी काव्य की तुलना नहीं हो सकती। उनमें प्रकृति का
आवरण दूर कर अन्तिम सत्य का रूप जानने की चेष्टा की
गई है। हिन्दू की दृष्टि में वेद उसके सामाजिक और
आध्यात्मिक जीवन का अनन्त स्रोत हैं। इसमें सन्देह नहीं
कि वेदों ने ही हिन्दू-साहित्य और विज्ञान की गति
निर्दिष्ट कर दी। वेदों के कर्म-काण्ड और ज्ञान-काण्ड से
हिन्दू धर्म-शास्त्रों और वेदान्त-शास्त्रों की सृष्टि हुई।

शास्त्रों का कथन है कि जिन नियमों के द्वारा हमारे
बाह्य और अन्तर जीवन का संगठन होता है, उनका न आदि
है और न अन्त। वे स्वतःप्रसूत हैं। अतएव उन्हें शिरोधार्य
करना मनुष्य मात्र का कर्तव्य है। सदाचार और कर्तव्य
विधि में कोई भेद नहीं है। पवित्र जीवन उसी का
समझा जाता है जो अपने समाज-निर्दिष्ट सभी कर्मों को
करता है। यही कारण है कि आज तक हिन्दुओं में व्यक्ति
की अपेक्षा समाज का अधिक महत्त्व है। वेदान्त शास्त्र की
शिक्षा इसके बिलकुल विपरीत है। उसने सामाजिक जीवन
की उपेक्षा करके प्रत्येक व्यक्ति के आत्मिक विकास पर जोर
दिया है।

समस्त वैदिक साहित्य जन-साधारण की सम्पत्ति न
...र हुए हैं लोगों की सम्पत्ति हो गये। भारतवर्ष के सर्व
...रण के सामाजिक जीवन में रामायण और महाभारत
...य स्थान लिया। उनका महत्त्व आज तक अक्षुण्ण है। इन्हीं

पाँच महीने में नष्ट हो जाता है। परन्तु वृक्ष की श्रेणी में दोनों का स्थान है। अपनी क्षण-भंगुरता के कारण वृक्ष, वृक्ष की श्रेणी से पृथक् नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार हिन्दी के अप्रसिद्ध कवि भी कवियों की पंक्ति से हटाये नहीं जा सकते। यह सम्भव है कि समाज ने उनकी अवहेलना की हो। यह भी सच है कि अपनी अल्प शक्ति के कारण उनकी कविता की दीप-शिखा एक क्षुद्र सीमा से ही अवरुद्ध रही हो। परन्तु समाज की अवहेलना और निरादर पाकर भी कवि अपने स्थान पर बैठा ही रहेगा। यदि वह सचमुच कवि है तो सम्भव नहीं कि उसका प्रभाव बिलकुल ही नष्ट हो जाय। जो वृक्ष अपने जीवन काल में किसी का उपकार नहीं कर सकता वह अपने अस्तित्व मात्र से वन की श्यामता की वृद्धि करता है। नदी के स्रोत में मिट्टी के जो छोटे छोटे कण बहते चले जाते हैं उन पर किसी की दृष्टि नहीं जाती। परन्तु कभी उनसे एक ऐसा द्वीप निर्मित हो जाता है जिसे देख कर हम लोग विस्मय-विमुग्ध हो जाते हैं। यही हाल क्षुद्र कवियों की क्षुद्र रचनाओं का है। अज्ञात रूप से साहित्य पर इसका जो प्रभाव चिराङ्कित हो जाता है वह कविता के विकास के लिये श्रेयस्कर है। अस्तु।

कविता सचमुच है क्या? कविता की इस परीक्षा में अच्छी और बुरी दोनों तरह की कविताएं हैं। रहस्यमयी कविता का स्वरूप पहचान लेना कठिन है। एक दिन एक कवि ने यह प्रश्न किया कि कविता की कसौटी है क्या? परन्तु कसौटी के ढूँढने के पहले हमें कविता ही ढूँढ लेनी चाहिये। सोने की कसौटी पर सोने की ही परीक्षा हो सकती है, कांच की परीक्षा में सोने की कसौटी काम नहीं देगी। इसीलिये

कविता चाहे अच्छी हो अथवा बुरी, सबसे पहिले हमें यही देख लेना चाहिये कि वह कविता है कि नहीं।

जो साहित्य-शास्त्र के मर्मज्ञ हैं वे कविता में रस और चमत्कार खोज लेते हैं। जिसमें उन्होंने इसका अभाव देखा उस को उन्हों ने कविता की पंक्ति से बाहर किया। परन्तु उन्हों ने यह विचार कभी नहीं किया कि कवित्व के सब गुणों से हीन पद्य-रचना अपढ़ लोगों के हृदय में क्यों स्थान पा लेती है। सड़क पर मजदूर और गँवार जो पद्य गाते फिरते हैं उनमें न तो रस का परिपाक हुआ है और न अलङ्कार का चमत्कार ही है। उनका कुछ अर्थ भी नहीं। तो भी उनसे उनका हृदय हिल जाता है। यदि लोक-प्रियता ही कविता की कसौटी समझी जाय तो ग्रामीण सङ्गीत ही कविता में सबसे ऊंचा स्थान पा जाय। हमें यह देखना चाहिये कि इन ग्रामीण सङ्गीतों से लेकर व्यास और वाल्मीकि के काव्यों तक में भावनाओं की वह कौन समान धारा है जो मूर्ख, विद्वान्, राजा और दरिद्र, सभी के हृदय में वह रही है। जो रचना उस भाव को जितनी अच्छी तरह व्यक्त करेगी वह उतनी ही अच्छी कविता कही जायगी।

विद्वानों के शब्द-जाल में पडकर हम लोग कविता को रहस्यमयी समझने लगे हैं। जब हम से यह कहा जाता है कि अमुक रचना कविता है तब हम आंख फाड कर उसमें कवित्व ढूंढने लगते हैं और अन्त में हताश होकर कहने लगते हैं कि इसमें ऐसी कौनसी बात है जो हम नहीं जानते। यह कहना ऐसा ही है कि यह कैसा सौन्दर्य है इसे तो हम बराबर देखते रहते हैं। इसीलिये अब तो असाधारणता ही सौन्दर्य का प्रधान लक्ष्य समझी जाती है। इसी असाधारणता के लिए कविता में शब्दों का जाल रचा जाता है।

अस्पष्ट भाव को स्पष्ट करने के लिये उपमा का प्रयोग नहीं किया जाता किन्तु उपमा की सार्थकता के लिये तदनुकूल भाव की योजना की जाती है। छन्द और भाषा भाव के लिए नहीं हैं। पर हमारी समझ में जिन रचनाओं में ये बातें हैं वे उतने से ही कविता नहीं कही जा सकती हैं। कविता की सच्ची पहिचान है कवि का अन्तःकरण।

यदि कवि ने अन्तःकरण में किसी सौन्दर्य का दर्शन किया है तो यह सम्भव नहीं कि उसकी रचना में उस सौन्दर्य का आभास न मिले, चाहे उस में सौन्दर्य का रूप मलिन क्यों न हो। यह सौन्दर्य सर्वत्र व्याप्त है। परन्तु जब हम उस सौन्दर्य का अनुभव न कर अपने मस्तिष्क की उत्तेजना मात्र से कविता लिखने का प्रयत्न करते हैं तब हमारी रचना उपहासास्पद हो जाती है। सौन्दर्य के अनुभव में कल्पना सहायक-मात्र है, वह स्वयं सौन्दर्य नहीं है। जिसमें कल्पना नहीं है वह तो कविता है ही नहीं। परन्तु जिस में कल्पना का रूप विकृत है वह भी कविता नहीं है। भाषा का सौष्ठव, अलङ्कारों की शोभा, छन्द का माधुर्य किसी रचना को विस्मयोत्पादक बना सकते हैं, परन्तु उस में सौन्दर्य का वह रूप नहीं दिखेगा जिसके लिये उसका हृदय सतृष्ण है।

विश्व का यह सौन्दर्य अनन्त है, परन्तु है यह सभी का लभ्य। सब से अधिक आश्चर्य की बात यह है कि यह सदैव नवीन रूप ही धारण करता है। यही कारण है कि वाल्मीकि, होमर, दान्ते, कालिदास, तुलसीदास आदि कवियों ने हमें जिस सौन्दर्य का दर्शन कराया है उसको उपलब्ध कर के भी हम सन्तुष्ट नहीं होते। सौन्दर्य का जो रूप उन्होंने दिखलाया है उसी में सौन्दर्य का अन्त नहीं होता है। मनुष्यों की यह सौन्दर्य-तृष्णा कम नहीं होती इसीलिये श्रेष्ठ कवियों के

होगई। परन्तु यदि पाठकों के हृदय में कोई चित्र उदित नहीं हुआ, केवल क्षणिक उत्तेजना पैदा हुई, तो रचना विफल है।

रामचरित-मानस में तुलसीदास जी ने अपने भक्ति-भाव को चित्रित किया है। यदि पाठक उनके भाव में लीन हो गये तो रामचरित-मानस का उद्देश पूर्ण होगया। परन्तु यदि उससे उनका मनोविनोद ही हुआ तो रामचरित-मानस का गौरव घट गया। कवि की भावना को यदि हम हृदयङ्गम कर सकें तो उसकी रचना सफल हो गई। इस दृष्टि से अच्छी कविता वह है जो शुद्ध भावना उत्पन्न करे और बुरी कविता वह जो बुरी भावना उत्पन्न करे। परन्तु जिससे भावना उत्पन्न ही न हो वह कविता नहीं, शब्दजाल है।

यदि कवि ने अपने हृदय में सौंदर्य का शुद्ध रूप देखा हो तो वह अपनी रचना को श्रेयस्कर बना सकता है। यदि उसके हृदय में सौन्दर्य की मलिन छाया है तो उसकी रचना से ग्लानि होगी। परन्तु जिसकी रचना में सौंदर्य ही नहीं है वह सदैव अनिष्टकर होगी। उसकी रचना में मनुष्य का सौन्दर्य-बोध नष्ट हो सकता है और चित्त विक्षिप्त हो सकता है। ऐसी रचना सदैव असह्य होती है।

ग्रामीण सङ्गीतों में क्षुद्र सौन्दर्य की अस्पष्ट छाया रहती है, तो भी वही उनके हृदय में भावना की तरङ्ग उठा देती है। परन्तु रस की मृग-तृष्णा उत्पन्न करने वाली रचना पाठक को साहित्य की मरुभूमि में व्याकुल और विक्षिप्त कर डालती है। ऐसी रचनाओं से अरुचि फैलने के कारण साहित्य का अपकार ही होता है।

कविता के विषय में भिन्न भिन्न विद्वानों की भिन्न भिन्न राय है। परन्तु कविता की व्याख्या चाहे जैसी की जाय,

इतना तो सभी स्वीकार करेंगे कि उसका उद्देश मा
समाज के लिये अवश्य श्रेयस्कर है। कविता केवल विल
की सामग्री नहीं है। यदि कविता से केवल रसिकों
चित्त-विनोद हुआ, यदि कविता से केवल क्षणिक उत्तेज
उत्पन्न हुई तो क्या कविता का उद्देश पूरा होगया? कवित
के विषय में कितने विद्वानों का यही मत है कि सामाजिक
जीवन में कविता से कुछ लौकिक लाभ नहीं। उसकी अपेक्षा
विज्ञान, इतिहास और दर्शन शास्त्र की चर्चा से देश और
समाज का अधिक कल्याण है। कवि के कल्पित राज्य में
रहने से किसी प्रकार की व्यवहारिक दक्षता नहीं आ
सकती। पर सच बात यह है कि मनुष्य-समाज से पृथक
कर देने पर कला का कोई मूल्य नहीं। सभी देशों में और
सभी कालों में कविता मनुष्यों के दैनिक जीवन की सहचरी
थी। सामाजिक जीवन पर भी कविता तथा अन्य ललित-
कलाओं का प्रभाव बड़ा काम करता है। समाज में उच्च
आदर्श स्थापित कर कविता चरित्र-गठन में सहायता करती है।

प्राचीन ग्रीस में शिल्प, नाटक और सङ्गीत आदर्श
चरित्र-गठन के प्रधान उपादान माने गये हैं। अँगरेज़ी के
एक प्रसिद्ध लेखक, डिकिन्स साहब, ने ग्रीस की सङ्गीत-चर्चा
के प्रसङ्ग में ग्रीक जाति की इस विशेषता का उल्लेख किया
है। यूरोप के मध्य युग में काव्य-साहित्य तथा सङ्गीत द्वारा
ईसाई धर्म और नाइट धर्म ने समाज में प्रसार लाभ किया।
युद्ध में न्याय-धर्म का पालन, सबला के अत्याचार से दुर्बलों
का उद्धार, स्त्री जाति के प्रति सम्मान और एक निष्ठ प्रेम
की साधना इन आदर्शों का प्रचार समाज में साहित्य के
द्वारा हुआ। भारतवर्ष में रामायण महाभारत, श्रीमद्भागवत
आदि काव्यों के आदर्श हिन्दू समाज के महत्त्व और

अनुसरण न करना चाहिये; उसे कोई नई बात पैदा करनी चाहिये। जिस पथ पर एक कवि को सफलता हुई है उसी पर चल कर दूसरा भी कवि होसके यह सम्भव नहीं। देश काल में भेद पड़जाने पर कभी कभी तो ऐसा करना अत्यन्त उपहासास्पद हो जाता है। अंगरेज़ी-साहित्य के इतिहास में एक ऐसा उदाहरण है भी। प्रसिद्ध लेखक एडिसन के समय में ड्यूक आफ़् मार्लबरो के विजय-प्राप्त करने पर एक काव्य लिखा गया था। उसमें कवि ने ड्यूक को होमर के वीरोचित गुणों से युक्त कर के कवच और सन्नाह धारण करा कर युद्ध-भूमि में अग्रगामी योद्धा के वेष में उपस्थित कराया था। प्राचीन काल में वीरता के आदर्श राम और हेक्टर थे। पर अब तो नेपोलियन के समान मनुष्य ही विश्व-विजयी हो सकते हैं। इसलिये होमर अथवा वाल्मीकि के युद्धवर्णन का आदर्श आधुनिक कवियों के काम का नहीं। आदर्श तो बदलते ही हैं, विषय भी परिवर्तित होते रहते हैं। जिन विषयों को प्राचीन कवि पद्यबद्ध करने के योग्य नहीं समझते थे उन पर आधुनिक कवि काव्य रचना करते हैं। अतएव यह निर्णय करना बड़ा कठिन है कि कवि का कार्य-क्षेत्र क्या है।

कहते हैं कल्पना ही कवि का कार्यक्षेत्र है, मनुष्य नहीं। सौंदर्य है ज्ञान नहीं, हृदय है मस्तिष्क नहीं, भाव है विचार नहीं। भावों की प्रधानता किस काव्य में हो नहीं मानी जाती? किन्तु सभी ललित कलाओं में भावों का प्राधान्य माना जाता है। भावों के आविष्करण को कला कहते हैं। पर आप किसी भी कला को लीजिये, उसमें विशेषत्व प्राप्त करने के लिये एक विशेष शिक्षा की आवश्यकता होती है। जब

उसका निर्दिष्ट ज्ञान नहीं होता तब उसमें सफलता नहीं प्राप्त होती। ज्ञान के विकास से भावों का विकास होता है। यदि यह बात न होती तो कवि अपने बाल्य-काल में ही उत्तमोत्तम कविता लिख डालता और इटली के रैफ़ल नामक चित्रकार के सबसे उत्तम चित्र उसके बाल्य काल में ही अङ्कित हुए होते; क्योंकि बाल्य काल में भावों का जितना प्राबल्य रहता है उतना प्रौढ़ावस्था में नहीं। सच तो यह है कि ज्ञान की उर्जितावस्था में ही कला का सबसे अच्छा विकास होता है। हृदय के साथ मस्तिष्क की पुष्टि होने पर भावों की उत्तम अभिव्यक्ति होती है।

यदि हमारा यह सिद्धान्त ठीक है तो हमें कहना चाहिये कि विज्ञान के विकास से कला का ह्रास नहीं, प्रत्युत वृद्धि होती है। लार्ड मेकाले ने मिल्टन के विषय में कहा है कि मिल्टन उस युग में हुआ जब कविता का समय गुज़र चुका था। पर हम समझते हैं कि मिल्टन का उदय अपने ही उपयुक्त समय में हुआ। उसके काव्यों में भावों की जो गम्भीरता और भाषा की जो प्रौढ़ता है वह उसीके युग के अनुकूल है। भारतीय-साहित्य के इतिहास पर एक बार दृष्टि डालिये। वीर रसात्मक काव्य के अन्तिम कवि व्यास थे। उनके बाद कोई भी कवि वीर-रस की कविता लिखने में यथेष्ट समर्थ नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि व्यवसाय की समृद्धि के साथ ही साथ विलासिता की वृद्धि होती है। उसके दो परिणाम होते हैं। एक तो विला-सिता से विरक्ति और दूसरे उससे अनुरक्ति। अतएव शांति के समय वैराग्य-रस अथवा शृंगार रस की ही कवितायें लिखी जाती हैं। जब जाति में संघर्षण रहता है, परस्पर द्वन्द्व युद्ध चलता है, तब वीर-रस की कविता का समय

जब भावों की वृद्धि होती है तब भाषा में रूपान्तर होता है। जब कोई भाषा भाव ग्रहण करने में असमर्थ होती है तब उसका अन्त हो जाता है और उसका आसन दूसरी भाषा ले लेती है। यही कारण है कि भाषा एकसी कभी नहीं रहती। उन्नतिशील मानव जाति के लिये भाषा में परिवर्तन होते रहना आवश्यक है। सारांश यह कि सभी भाषाएँ सभी भावों को व्यक्त करने में समर्थ नहीं होतीं। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न स्वर प्रकट होते हैं। भारतीय भाषाओं में जो भाव व्यक्त हो सकते हैं वे भाव योरोपीय भाषाओं में भली भाँति व्यक्त नहीं होंगे। तो भी इतना हम अवश्य कहेंगे कि भाव स्रोत की एक ही धारा एक ही समय में सर्वत्र बहती है। प्राचीन काल में सभी कवि प्रकृति के देदीप्यमान शक्तियों का गान करते हैं। इसके बाद कवि वीरों का गान करते हैं। इसके बाद नाटकों की सृष्टि होती है, भाषा का माधुर्य बढ़ता है, अलङ्कारों की ध्वनि सुन पड़ती है और पद नैपुण्य प्रदर्शित किया जाता है। इसके बाद सांसारिक विषयों से घृणा होती है। भक्ति के उन्मेष में कोई प्रकृति का आश्रय लेता है, कोई प्राचीन आदर्शों का।

बाह्य प्रकृति के बाद कवि अपने अन्तर्जगत की ओर दृष्टिपात करता है। नव साहित्य में कविता का रूप परिवर्तित हो जाता है। कविता का लक्ष्य मनुष्य ही हो जाता है। संसार से दृष्टि हटाकर कवि व्यक्ति पर ध्यान देता है तब उसे आत्मा का रहस्य ज्ञात होता है। वह सान्त में अनन्त का दर्शन करता है और भौतिक पिण्ड में असीम ज्योति का आभास पाता है। हमारा विश्वास है कि सभी देशों के साहित्य में भविष्य कवि का लक्ष्य इधर ही होगा। अभी तक

जब भावों की वृद्धि होती है तब भाषा में रूपान्तर होता है। जब कोई भाषा भाव ग्रहण करने में असमर्थ होती है तब उसका अन्त हो जाता है और उसका आसन दूसरी भाषा ले लेती है। यही कारण है कि भाषा एकसी कभी नहीं रहती। उन्नतिशील मानव जाति के लिये भाषा में परिवर्तन होते रहना आवश्यक है। सारांश यह कि सभी भाषाएँ सभी भावों को व्यक्त करने में समर्थ नहीं होतीं। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न स्वर प्रकट होते हैं। भारतीय भाषाओं में जो भाव व्यक्त हो सकते हैं वे भाव योरोपीय भाषाओं में भली भाँति व्यक्त नहीं होंगे। तो भी इतना हम अवश्य कहेंगे कि भाव स्रोत की एक ही धारा एक ही समय में सर्वत्र बहती है। प्राचीन काल में सभी कवि प्रकृति के देदीप्यमान शक्तियों का गान करते हैं। इसके बाद कवि वीरों का गान करते हैं। इसके बाद नाटकों की सृष्टि होती है भाषा का माधुर्य बढ़ता है, अलङ्कारों की ध्वनि सुन पड़ती है और पद नैपुण्य प्रदर्शित किया जाता है। इसके बाद सामाजिक विषयों की सृष्टि होती है। नीति के उन्मेष में कोई प्रकृति का आश्रय लेता है और प्राचीन आदर्शों का।

बाह्य प्रकृति के बाद कवि अपने अन्तर्जगत की ओर दृष्टिपात करता है तब साहित्य में कविता का रूप परिवर्तित हो जाता है। कविता का लक्ष्य मनुष्य ही हो जाता है। संसार से दृष्टि हटाकर कवि व्यक्ति पर ध्यान देता है तब उसे आत्मा का रहस्य ज्ञात होता है। वह सान्त में अनन्त का दर्शन करता है और भौतिक पिण्ड में असीम आत्मा का आभास पाता है। हमारा विश्वास है कि सभी देशों के साहित्य में अनिवार्य कवि का लक्ष्य ईश्वर ही होता। अभी तक

वह मिट्टी में सने हुए किसानों और कारखाने से निकले हुए मजदूरों को अपने काव्य का नायक बनाना नहीं चाहता था। वह राज स्तुति, वीणा था अथवा प्रकृति वर्णन में ही लीन रहता था। परन्तु अब क्षुद्रों की भी महत्ता देखेगा और तभी जगत् का रहस्य सबको विदित होगा। जगत् का रहस्य क्या है, इस पर एक ने कहा है कि साधारणता में यह रहस्य नहीं है। जो साधारण है वही रहस्यमय है; वही अनन्त सौन्दर्य से युक्त है। इसी सौन्दर्य को स्पष्ट कर देना भविष्य कवियों का काम होगा।

है। उसके हृदय में यह विश्वास छिपा हुआ रहता है कि वह कुछ और भी है। कभी कभी वह उस कुछ और को भी प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इसीलिये वह जब किसीमें किसी प्रकार की महत्ता देखता है तब वह उसकी ओर आकृष्ट होता है। वह शक्ति की महत्ता को समझता है, इसीलिये वह शक्ति का अनुभव करना चाहता है। तभी मनुष्य के जो जो प्रतिनिधि हैं वे सभी उसकी कल्पना के विषय हो जाते हैं। मनुष्यों को महत् भाव की ओर अग्रसर कराने के लिये साहित्य की सृष्टि होती है। यह भाव चिरन्तन है, अतएव जो साहित्य इस भाव की पुष्टि करता है वह भी चिरन्तन है। वह साहित्य लौकिक साहित्य है। वह विद्वानों की सम्पत्ति नहीं है। उस पर सर्व साधारण का अधिकार होता है। जब विद्वान् कला की मीमांसा में निरत रहते हैं तब सर्व-साधारण का परितोष इसी साहित्य से होता है। विद्वानों को सर्वदा इसीकी चिन्ता रहती है कि ज्ञान की धारा मलिन न होने पावे। वे ज्ञान के क्षेत्र को पाण्डित्य की चहार दीवारी से घेर डालते हैं। उनका साहित्य अगाध कूप का जल है, जिसको प्राप्त करने के लिये गुण की जरूरत होती है। परन्तु लौकिक साहित्य सर्व साधारण के लिये है। यह वह बहता हुआ नीर है जिससे जो चाहे अपनी प्यास बुझा सकता है। इसके लिये गुण की जरूरत नहीं पाण्डित्य और विद्वत्ता की आवश्यकता है।

इस साहित्य की पहली विशेषता यह है कि यह सर्व-साधारण की भाषा में निर्मित होता है। अनादि काल से मनुष्यों की एक भाषा है, जो सर्वथा जीवित रहती है। उसका स्थान विद्वानों के कोष में नहीं, सर्व-साधारण की अक्षय निधि में है। विद्वानों के कोष में भाषा स्थिर हो जाती

है, परन्तु सर्व साधारण की अक्षय निधि में भाषा चिर नवीन बनी रहती है। दूसरी विशेषता यह है कि इस साहित्य में उन्हीं भावों की प्रधानता रहती है जिनसे किसी जाति की जातीयता है। प्रत्येक जाति की एक ऐसी विशेषता होती है जिसके कारण वह अन्य जातियों से सम्पर्क रख कर भी अपना अस्तित्व नहीं खो देती। भारतवर्ष में वैदिक काल से लेकर आज तक अनेक जातियों का सम्मिलन हुआ है। उनमें कुछ जातियों का तो अब पता तक नहीं लगता। वे हिन्दू-जाति में बिलकुल लुप्त हो गई हैं। यह सम्भव नहीं कि हिन्दू-जाति पर उसका कुछ भी प्रभाव न पड़ा हो। परन्तु हिन्दू-जाति की जो विशेषता वैदिक-काल में थी वह आज तक बनी हुई है। उसी के कारण वर्तमान हिन्दू वैदिक-काल के आर्यों से अनेक बातों में भिन्न होते हुए भी अपना सम्बन्ध उन्हीं से जोड़ता है। यह सम्बन्ध लौकिक साहित्य के कारण अक्षुण्ण बना रहता है। तीसरी विशेषता यह है कि यह साहित्य किसी से कुछ ग्रहण करने में कुछ संकोच नहीं करता। अतएव इसका सदा विकास होता रहता है। जिस प्रकार यह जातीय भावों का संरक्षक है उसी प्रकार यह सार्वभौमिक भावों का भी प्रचारक है। समाज पर इसी साहित्य का प्रभाव पड़ता है और समाज में जो कुछ परिवर्तन होते हैं वे सब इसी के परिणाम हैं। हिन्दी-साहित्य के आदिकाल में जो रचनाएँ हुई हैं वे इसी साहित्य के फल हैं।

बौद्ध-धर्म के पतन के बाद देश में जिस साहित्य की प्रतिष्ठा हुई उसका सम्बन्ध सर्व-साधारण से नहीं था। जिस प्रकार बौद्धों और नव-हिन्दू-धर्म के आचार्यों के शास्त्रार्थ और विवाद कुछ थोड़े विद्वानों के लिये थे उसी प्रकार नव-हिन्दू-साहित्य के ग्रन्थ-रत्न भी विद्वानों के लिये

थे। धर्म की सूक्ष्म मीमांसा, दर्शन की जटिल व्याख्या और काव्य का चमत्कार सर्व-साधारण के लिये अनधिगम्य ही है। परन्तु जब देश में इनकी चर्चा हो रही थी तब क्या सर्व-साधारण जड़ीभूत हो रहे थे? क्या उनके हृदय में किसी प्रकार की भावनाएँ नहीं उठ रही थीं? क्या अपने दैनिक जीवन के लिये उस धर्म की प्रतीक्षा कर रहे थे जिसका निर्णय बौद्ध-विद्वानों और हिन्दू-धर्म के आचार सभाओं में बैठकर कर रहे थे? क्या किसी कालिदास, भवभूति, बाण अथवा श्रीहर्ष की रस-धारा के लिये वे अपने हृदय को शुष्क बना रहे थे? सच बात यह है कि हमारे दैनिक जीवन में अन्तःसलिला होकर जो चिर-जीवन की धारा बह रही है उसका प्रभाव कभी अवरुद्ध नहीं होता। सर्व-साधारण में मनुष्यों का सम्मिलन क्षण भर के लिये नहीं रुकता। यही कारण है कि देश से बहिष्कृत होने पर भी बौद्ध-धर्म हिन्दू-समाज पर अपना प्रभाव छोड़ गया। किसी दर्शन-शास्त्र और धर्म-शास्त्र के द्वारा यह कार्य सम्पन्न नहीं हुआ। जिस साहित्य का यह फल है वह मनुष्यों की चिरजीवन धारा में लुप्त हो गया है। तत्कालीन मनुष्यों के सुख-दुख में जो साहित्य उनका साथ देता था वह कहाँ गया? खेतों में बैठकर किसान जिन कथाओं में अपने पूर्वजों के कृत्यों का स्मरण करते थे, घर में जिनसे उनका मनो-विनोद होता था, जिन प्रेममय गानों को सुनकर क्षण भर उनका हृदय-स्पन्दन रुक जाता था, जिन कविताओं के द्वारा उनके हृदय में भक्ति-भाव का उद्रेक होता था उनका अब पता नहीं लग सकता, पर उन्हीं के आधार पर संसार के श्रेष्ठ साहित्य की रचना हुई है। हिन्दी के आदिकाल के कवियों ने उन्हीं से अपने काव्य की सामग्री एकत्र की है।

सभी देशों में आदिकाल के साहित्य में एक ही भाव की प्रधानता रहती है। यह भाव मनुष्य-जाति की समानता प्रकट करता है। देश और काल का व्यवधान होने पर भी मनुष्य सर्वत्र मनुष्य ही रहता है। अतएव वह जब कभी कहीं महत्ता देखता है तब उसके हृदय में भिन्न-भिन्न भाव उदय होते हैं! कभी उसे विस्मय होता है, कभी वह आतङ्क में डूब जाता है। कभी भक्ति से उसका मस्तक अवनत हो जाता है और कभी आनन्द से उसका हृदय भर जाता है। विस्मय, आनन्द, आतङ्क और भक्ति, ये सब मनुष्य के अन्तर्गत अनुराग के फल हैं। महत्ता पर मनुष्य का स्वाभाविक अनुराग है। इसीसे वह उसकी ओर आकृष्ट होता है और उससे जो जो भाव उत्पन्न होते हैं उनको वह बार बार अनुभव करने की इच्छा करता है। यदि वे भाव क्षणिक हुए तो उससे उसकी तृप्ति नहीं होती और वह अन्यत्र महत्ता का दर्शन करने की चेष्टा करता है। प्राचीन काल में प्रकृति की जिन विभूतियों में मनुष्य महत्ता का अनुभव करता है उनके प्रति उसका वह भाव सदा नहीं बना रहता है। जब तक प्रकृति की शक्ति रहस्यमयी होती है तभी तक वह उसमें महत्ता का अनुभव भी करता है। जब वह उसके लिये साधारण हो जाती है तब वह उससे सन्तोष लाभ नहीं करता। पर इसका यह मतलब नहीं है कि ज्ञान की वृद्धि होने पर मनुष्य प्रकृति में महत्ता ही नहीं देखता। बात यह है कि जब वह अपनी कर्तृत्व शक्ति का अनुभव करने लगता है तब वह प्रकृति को स्वायत्त करना चाहता है। उस समय वह मनुष्य की शक्ति में जो महत्ता देखता है उसे वह प्रकृति में नहीं पाता। अज्ञान के कारण प्रकृति में उसने जो शक्ति आरोपित की थी उसे वह मनुष्य पर

आरोपित करता है। फिर भी प्रकृति का एक गुण ऐसा है जो उसके लिये सदैव चित्ताकर्षक बना रहता है। वह है उसका चिर-नवीन सौन्दर्य। अतएव यह सौन्दर्य उसकी कल्पना का विषय बना रहता।

जब मनुष्य मानवीय शक्ति में महत्ता देखने लगता है तब उसकी दृष्टि कहाँ जायगी? मध्य-युग में मनुष्य राज-सभा में ही शक्ति की पराकाष्ठा देखता था। उस समय राजा ही मानवीय शक्ति का प्रतिनिधि होता था। जब तक देश में राजशक्ति अक्षुण्ण रही तब तक राजा ही मनुष्य की कल्पना का आदर्श रहा। राजा का प्रेम, राजा का युद्ध, राजा की विजय, यही सर्व-साधारण के लिये महत् होना चाहिये। इसीलिये सभी देशों की प्राचीन कथाओं में राजा का ही वर्णन है। राजा को आदर्श मानकर मनुष्य उसमें अपनी समस्त इच्छाओं का परम परिणाम देखना चाहता है। राजा को सबसे अधिक रूपवान होना चाहिये। उसमें शक्ति भी असाधारण हो। मनुष्यों में जो जो गुण हो सकते हैं उन सबका समावेश उसमें होना चाहिये। उसके लिये विलास की सामग्री भी अद्वितीय होनी चाहिये। यह सब कुछ होने पर भी कथाओं में राजा का जीवन सुखमय नहीं होता। उसे सभी प्रकार की विपत्तियों का सामना करना पड़ता है। उस के शत्रु विकट होते हैं। परन्तु अन्त में वह सब को पराभूत कर देता है। सङ्कट में वह धैर्यच्युत नहीं होता। प्रलोभन में पड़कर उसकी मति भ्रष्ट नहीं होती। यही बात श्रेष्ठ महा काव्यों से लेकर ग्राम्य कथाओं तक में पाई जाती है। लौकिक साहित्य में जातीय पराभव की कथा नहीं प्रचलित होती। यदि रावण के वंशधर लङ्का में जीवित होते तो श्रेष्ठ महाकाव्य होने पर भी रामायण उनके लिये आदरणीय नहीं होती।

उसका दिग्दर्शन अवश्य हुआ है। हिन्दू-काव्यों में प्रेम का पर्यवसान विवाह में हुआ है। विवाह में कर्तव्य-ज्ञान रहता है। समाज का कल्याण उस पर निर्भर है। कर्तव्य-ज्ञान रहित लालसा को हिन्दू-समाज में प्रेम का स्थान नहीं दिया गया है। हिन्दू-स्त्री के सतीत्व की रक्षा तभी हो सकती है जब उसका-प्रेम कर्तव्य-पथ हो। हिन्दी के परवर्ती कवियों ने जिस निर्बाध लालसा का चित्र अंकित किया है वह प्रेम नहीं, उद्दाम वासना है। समाज की असंयतावस्था में ही मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ प्रचण्ड होती हैं। हिन्दी-साहित्य के आदिकाल में समाज सुव्यवस्थित हो गया था। तब हिन्दू-धर्म ने सामाजिक नियमों में स्थिरता ला दी थी। उस समय देश में राज-सत्ता ही की समस्या थी। धार्मिक और नैतिक नियमों की सीमा थी, परन्तु राज-सत्ता की कोई सीमा नहीं थी। जिस प्रकार धर्म-गुरुओं पर समाज का भार था उसी प्रकार राज्य का भार राजा पर था। सर्व-साधारण में देश-भक्ति नहीं थी, राज-भक्ति थी। अतएव तत्कालीन साहित्य मे हमें समाज की संयतावस्था का चित्र मिलता है और असंयत राज शक्ति का। राजा ही सम्पूर्ण देश का केन्द्र था। सर्व साधारण का आत्मत्याग उसीके लिये था। जब तक भारतवर्ष में हिन्दू-साम्राज्य रहा तब तक राज-भक्ति और धर्म-भक्ति में कभी सङ्घर्षण नहीं हुआ। इसीलिये आदिकाल में भारतीयों की धर्म-बुद्धि निश्चेष्ट सी रही। सर्व साधारण अपने धर्म की रक्षा का भार ब्राह्मणों को सौंपकर अपने कर्तव्य पालन मे निरत रहे। राजकीय सत्ता अव्यवस्थित होने के कारण राज्य की रक्षा के लिये सभी सावधान थे। अतएव देश मे क्षात्र-धर्म चैतन्य था। इसी भाव को प्रबुद्ध रखने के लिये लौकिक-साहित्य में वीर-गाथाएँ

प्रचलित थीं। जब हिन्दू-साम्राज्य का पतन हो गया तब भी देश में स्वाधीनता के भाव प्रबल थे। चन्द वरदाई के समय से लाल कवि तक कितने ही कवि हुए, जिन्होंने म्रियमाण हिन्दू-जाति में स्वाधीनता का भाव जागृत रखने की चेष्टा की।

चन्द कवि के काव्य में क्षात्र-धर्म का जैसा चित्र अंकित हुआ है वह सर्व-साधारण की भावना का प्रतिच्छाया है। कवि ने उसमें सर्व-साधारण के भाव को ही एक रूप दिया है। इस रूप-निर्माण में उन्होंने अपने पूर्ववर्ती साहित्य से अवश्य सहायता ली है। चन्द कवि ने ग्रन्थारम्भ में जिन कवियों की वन्दना की है वे तो वन्दनीय ही हैं। परन्तु उनके सिवा हम उन अज्ञात कवियों की भी वन्दना करते हैं जिनके कारण लौकिक-साहित्य सदैव जीवित बना रहता है। वही विचार-धारा को विच्छिन्न नहीं होने देते। क्षुद्र होने पर भी उन्हीं की रचनाओं के आधार पर सत्साहित्य की सृष्टि होती है।

[२]

चन्द हिन्दी के आदि कवि माने जाते हैं। विद्वानों की राय है कि उनका जन्म काल सन् ११२८ है। उनके विषय में यह भी कहा जाता है कि वे प्राय ६५ वर्ष तक जीवित रहे। उनका जीवन-काल दिल्लीश्वर महाराज पृथ्वी-राज की राज सभा में व्यतीत हुआ। वे राज-कवि थे और महाराज पृथ्वीराज के प्रेम-पात्र भी। राजाओं के कृपा-पात्रों पर विद्वेषियों की सदैव कुदृष्टि रहती है। यह सम्भव नहीं है कि चन्द कवि का विरोधी कोई भी न रहा हो। उनकी रचनाओं की भी निन्दा करने वाले रहे होंगे। ऐसे ही विरो-धियों के सम्बन्ध में चन्द कवि ने लिखा है—

सरस काव्य रचना रचौं खल जन सुनिन हसन्त ।
जैसे सिंधुर देखि मग स्वान सुभाव भुसन्त ॥

किन्तु चन्द को अपने निन्दकों की परवा नहीं थी। उन्हे अपनी कवित्व शक्ति पर पूरा विश्वास था। परन्तु चन्द कविता की महत्ता को खूब समझते थे। वे जानते थे कि कवि का पद बड़ा ऊंचा है। उन्होंने अपनी कविता के सम्बन्ध में लिखा है—

कवी कित्ति कित्ती उकत्ती सु दिख्खी।
तिनै की उचिष्टी कवी चन्द भख्खी॥

चन्द का पृथ्वीराज-रासो हिन्दी साहित्य का पहला महाकाव्य है। विद्वानों की राय है कि पृथ्वीराज-रासो मे कुछ प्रक्षिप्त अंश भी हैं। यह भी कहा जाता है कि उसका अन्तिम अंश चन्द के पुत्र जल्हन का लिखा हुआ है। रासो में तो यह कहा गया है—

प्रथम वेद उद्धार वंभ मछहत्तन किन्नो।
दुतिय वीर बाराह धरनि उद्धरि जस लिन्नो॥
कौमारक नभ देस धरम उद्धरि सुर सष्पिय।
कूरम सूर नरेस हिन्द हद उद्धरि रष्पिय॥
रघुनाथ चरित हनुमन्त कृत भूप भोज उद्धरिय जिमि।
प्रथिराज सुजस कवि चन्द कृत चन्द नन्द उद्धरिय तिमि॥

अर्थात् वेदों का उद्धार पहले मत्स्य ने किया। फिर वाराह ने पृथ्वी का उद्धार कर यश प्राप्त किया। कुमार ने स्वर्ग में धर्म का उद्धार किया। इसके साक्षी स्वयं देवगण हैं। कछवाहे शूर नरेश ने भारत का उद्धार किया। राजा भोज ने जिस प्रकार हनुमानकृत रामचरित्र का उद्धार किया

संभरी नरेस सोमेस पूत।
देवंत रूप अवतार धूत।

(४)

सामन्त सूर सब्बै अपार।
भूजान भीम जिम सारभार॥
जिहि पकरि साह साहाब लीन।
तिहुँ बेर करिय पानीप हीन॥
सिंगिनि सुसद्द गुन चढ़ि जंजीर।
चुक्कै न सबद बेधंत तीर॥
बल बैन करन जिमि दान मान।
सत सहस सील हरिचंद समान॥
साहस सुकम्म विक्रम जु बीर।
दानव सुमत्त अवतार धीर॥
दिस च्यार जानि सब कला भूप।
कन्द्रप्प जानि अवतार रूप॥

चन्द कवि का नारी-रूप-वर्णन भी परवर्ती कवियों के नायिका-सौन्दर्य-वर्णन से सर्वथा भिन्न है। चन्द ने कल्पित नायिकाओं का नहीं, राज-कन्याओं का रूप-वर्णन किया है। अतएव उनके वर्णन में एक गौरव, एक मर्यादा का भाव विद्यमान है। यह सच है कि उनके वर्णन से हृदय में किसी प्रकार का चित्र उदित नहीं होता। पर उससे क्षत्रिय-ललनाओं के रूप का आभास अवश्य मिल जाता है—

मनहु कला ससिभान कला सोलह सो बन्निय।
बाल बैस ससि ता समीप अम्रित रस पिन्निय।
बिगसि कमल म्रिग भमर बैन खंजन म्रिग लुट्टिय।
हीर कीर अरु बिंब मोति नख सिख अहि घुट्टिय।

छत्रपति गयन्द हरि हंस गति विह बनाय संचें संचिय।
पद्मिनिय रूप पद्मावतिय मनहुँ काम कामिनि रचिय॥

बालिकाओं की क्रीड़ा-सुलभ चञ्चलता, कौतूहल और विनोद-प्रियता को चन्द ने निम्न लिखित पद्य में मूर्तिमान् कर दिया है—

मन अति भयो हुलास विगसि जनु कोक किरन रवि।
अरुन अधर तिय सधर बिम्ब फल जानि कीर छवि॥
यह चाहत चख चकृत उह जु तक्किन झरप्पि झर।
चंच चहुट्टिय लोभ लियौ तब गहित अप्प कर॥
हरषत अनन्द मन मांह हुलस लै जु महल भीतर गई।
पंजर अनूप नग मनि जटित सो तिहि महँ रष्पत भई॥

अब युद्ध-भूमि का एक दृश्य देख लीजिए। रणोल्लास का कदाचित् इससे अच्छा चित्र हिन्दी साहित्य में अन्यत्र नहीं है—

बज्जिय घोर निसान रान चहु आन चिहौं दिस।
सकल सूर सामन्त समरि बल जंत्र मंत्र तस।
उट्ठिराज पृथिराज बाग लग मनो वीर नट।
कढ़त तेग मनो वेग लगत मनो बीज झट्ट घट।
थकि रहे सूर कौतिग जगन रगन मगन भई श्रोन धर।
हर हरषि वीर जग्गे हुलस हुरव रङ्गि नव रत्त वर॥

चन्द कवि की यही विशेषता है। उनकी कृति में एक प्रकार का विजय-दर्प, विजयोल्लास है। पृथ्वीराज का पतन अवश्य हो गया। पर उस पतन में भी एक गौरव है। विजय हो या पराजय, इसकी चिन्ता क्षत्रियों ने कभी नहीं की। उन्होंने अपने गौरव को सदैव अक्षुण्य रखा, उन्होंने आत्म-पराभव कभी स्वीकार नहीं किया। इसीसे अन्त में भी कवि ने अपना विजयोल्लास ही प्रकट किया है--

थी। उसमें संयोग और वियोग तथा अनुराग और विराग की बातें थीं। हिन्दू-साम्राज्य तो छिन्न-भिन्न हो गया था और भारत पर मुसलमानों का आधिपत्य भी हो गया था। समराग्नि की ज्वाला में वीरों की आहुति हो रही थी। तो भी भारतवर्ष के ग्राम्य-जीवन में परिवर्तन नहीं हुआ। देश के एक कोने में युद्ध होरहा है तो दूसरी ओर शान्ति की धारा भी वह रही है। उसी ग्राम्य-जीवन में हिन्दुओं और मुसलमानों का सम्मिलन भी होने लगा। फारसी के प्रसिद्ध कवि अमीर खुसरो ने भारत की उसी लौकिक भाषा और लौकिक साहित्य के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसमें कुछ कवितायें लिखीं।

खुसरो रैन सुहाग की जागी पिय के संग।
तन मेरो मन पीय के भये दोऊ एक रंग॥
श्याम सेत गोरी लिये जनमत भई अनीत।
इक पल में फिर जात है जोगी काके मीत॥
गोरी सोवे सेज पर मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने रैन भई चहुँ देश॥

सर्वसाधारण में जीवन और मृत्यु, सुख और दुख का जो चिरन्तन प्रवाह वह रहा था उसी का आभास हमें इन पद्यों मे मिल जाता है।

बहुत रही बाबुल घर दुलहन चल तोरे पी ने बुलाई।
बहुत खेल खेलो सखियन सों अन्त करी लरकाई।
न्हाय धोय के वस्तर पहिरे सब्ही सिंगार बनाई।
विदा करन को कुटुम्ब सब आये सगरे लोग लुगाई।
चार कहार मिल डोली उठाये संग पुरोहित औ चले नाई।
चले ही बनेगी होत कहा है नैनन नीर बहाई।

अन्त विदा होय चलि है दुलहिन काहू को कछु न बसाई ।
मौज लुटी सब देखत रहि गये मात पिता और भाई ।

इसी समय संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् विद्यापति ठाकुर ने प्रेम के माधुर्य से पूर्ण कोमल पदावली की रचनायें की ।

सरस वसन्त समय भल पाओलि दछिन पवन वहु धीरे ।
सपनहु रूप वचन यक भाषिय मुख सेंदुरि दुरु चीरे ।
तोहर वदन सम चांद होअथि नहि जैयो जतन विहदेला ।
कै वेरि काटि बनावल नवकय तैयो तुलित नहीं भेला ।
लोचन तूय कमल नहि भेतक से जग के नहि जाने ।
से फिर जाय लुकै गह जल भय पकज निज अपमाने ।
भनति विद्यापति सुन वरजौ मति इँसे लछमी समाने ।
राजा शिवसिंह रूप नरायण लखिमा दइ प्रतिमाने ।

अर्थात्, वसन्त का सरस समय है । दक्षिण पवन मन्द मन्द बह रही है । तुम अपने मुख से घूँघट दूर करो । तुम्हारे मुख के बराबर चन्द्रमा है नहीं । ब्रह्मा ने खूब प्रयास किया, काट छांट कर उसे कई बार नये नये रूप दिये । परन्तु वह तुम्हारे मुख की समता नहीं कर सकता । तुम्हारे नैनों की तुलना कमल नहीं कर सकता । इसी अपमान से लज्जित होकर आज कमल में जा छिपा है । सरस भाव और सरल उपमा इनकी लोकिक साहित्य की विशेषता है ।

तृतीय परिच्छेद

(१)

जिन महापुरुषों की वाणी आज ससार में अमर है उन्होंने मनुष्य के मानसिक भावों की रक्षा कर कोई बात कहने की चेष्टा नहीं की है। वे जानते थे कि मनुष्य अपने मन से कहा बडा है अर्थात् मनुष्य अपने मन में अपने को जैसा समझता है उसीमें उसकी समाप्ति नहीं है। इसलिये उन्होंने मनुष्य के राज-दरबार में अपना दूत भेजा, द्वार पर द्वारपाल को ही मधुर बातो से सन्तुष्ट कर उद्धार का सरल उपाय खोजनेकी चेष्टा व्यर्थ नहीं की। उन्होंने जैसी बातें कही है वैसी बातें कहने का साहस कोई नही कर सकता। ससार के कार्यों में व्यस्त मनुष्य उन्हें सुनकर विरक्त हो जाता है। वह उन्हें अपने काम की बात नही मानता। परन्तु काम की बड़ी बड़ी बाते तो काल-स्रोत में बुद्बुद् की तरह उठता और

लीन हो जाती हैं और वे बातें जिनसे असम्भव भी सम्भव हो जाता है; अभावनीय भी सत्य हो जाता है, बुद्धिमानों की युक्ति-युक्त बातें न होने पर भी, पागलों का प्रलाप-मात्र होने पर भी, मनुष्यों के हृदय पर अपना अक्षय प्रभाव छोड़ जाती हैं। मनुष्य जितना ही अधिक उनका तिरस्कार करता है, उतना ही अधिक उनका प्रभाव बढ़ता है। यदि वह उन्हें नष्ट करने की चेष्टा करता है तो वे अमर होजाती हैं। देखते ही देखते वे मनुष्य के अन्तर्जगत और बाह्य-जगत दोनों पर अधिकार जमा लेती हैं। वे मनुष्यों को एक ऐसे रङ्ग में रंग देती हैं जो फिर छूटने का नहीं।

सतगुर [illegible] रंगरेज, चुनर मेरी रंगिडारी ॥
स्याही [illegible] के रे, दिया [illegible] रंग
धोये [illegible] निस-दिन [illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible]

आश्रय देता है पर तुम्हें बन्द नहीं रखता, जो निर्मित नहीं होता किन्तु स्वयं विकसित होता है, जो शास्त्रों के शब्द-कौशल की सृष्टि नहीं है किन्तु अक्षय जीवन की अनन्त सृष्टि है। उनसे मनुष्य कहता है कि यह पथ-यात्रा हमारे लिये असाध्य है, क्योंकि हम दुर्बल हैं और क्रान्त हैं। हम यहाँ स्थिर हो कर रहना चाहते हैं। तब वे बतलाते हैं कि यहाँ स्थिर होकर रहना, यही तुम्हारे लिये असाध्य है क्योंकि तुम मनुष्य हो, तुम महत् हो, तुम अमृत के पुत्र हो।

जो व्यक्ति छोटे होते हैं वे संसार को असंख्य बाधाओं का क्षेत्र मानते हैं। वे बाधायें उनकी दृष्टि को संकुचित और उनकी समस्त आशाओं को नष्ट कर डालती हैं। इसीलिये वे सत्य को नहीं जान सकते और वे बाधायें ही उनके लिये सत्य हो जाती हैं। किन्तु जो महापुरुष होते हैं वे समस्त बाधाओं को हटा कर सत्य को देख लेते हैं। इसीलिये इन दोनों के कथन में बड़ा वैपरीत्य है।

संसार में हम देखते हैं कि अधिकांश लोग यही समझते हैं कि अधर्म से ही हमारे जीवन की रक्षा हो सकती है। अपनी इसी धारणा के वशीभूत हो लोग कितनी ही कुटिल नीतियों का अनुसरण कर सदैव एक दूसरे को पराभूत करने की चेष्टा करते हैं।

इन महात्माओं के अनुशासनों को भी सुनना असम्भव है। संसार में जो लोग जैसे हैं उनको उसी प्रकार देखना, यही बड़ा कठिन है। किन्तु ये यहीं नहीं रुक जाते हैं। ये कहते हैं—सब को अपने समान देखो। इसका कारण यह है कि जहाँ आत्म-पर का भेद है वहाँ उनकी दृष्टि नहीं जाती, किन्तु जहाँ दोनों का मेल है वहीं वे विहार करते हैं। शत्रु को क्षमा करना

और होगा। बाधा की दूसरी ओर, उसका अतिक्रमण कर, जो सत्य है उसको परम लक्ष्य न मानकर बाधाओं के ऊपर ही यदि ध्यान रक्खा गया तो मनुष्य उन बाधाओं से ही मिलाप करने की चेष्टा करेगा और सत्य को अपनी सीमा से बाहर समझेगा। परन्तु सन्तों ने असाध्य-साधन को ही परम लाभ कहा है और उसीको मनुष्य-धर्म बतलाया है। वही मनुष्य का पूर्ण स्वभाव है और वही सत्य है।

अच्छा, उस सत्य की खोज कहाँ की जाय और उसके लिये किन साधनों की आवश्यकता है? संसार सान्त है और वह सत्य अनन्त है। तब क्या वह यहाँ पाया जा सकता है? वह क्या हमारे लिए असाध्य नहीं है? इसी धारणा के कारण जब मनुष्य उसकी प्राप्ति के लिये व्याकुल हो जाता है तब वह संसार को छोड़कर भटकता रहता है। पर उस अनन्त की प्राप्ति उसे नहीं होती। सद्गुरु उसकी इस मूढ़ता को देख कर कहते हैं—तू कहाँ भटकता फिरता है—

कस्तूरी कुण्डल बसै, मृग ढूँढ़ै बन माहि।
ऐसे घट में पीव है, दुनिया जानै नाहि॥
तेरा साईं तुझमें, ज्यों पुहुपन में बास।
कस्तूरी का मिरग ज्यों, फिरि-फिरि ढूँढ़ै घास॥
ज्यों तिल माहीं तेल है, ज्यों चकमक में आगि।
तेरा साईं तुझ में, जागि सके तो जागि॥

परन्तु यह ज्ञान सद्गुरु के बिना दूसरा कौन दे सकता है? इसीलिये सन्तों की वाणी में सद्गुरू की बड़ी महिमा गायी गयी है। यह हिन्दी साहित्य का सौभाग्य है कि उसके जीवन के प्रारम्भिक काल में ऐसे अनेक सन्त हुए जिनके वचनामृत का पान कर संसार तृप्त हो सकता है।

धर्म साहित्य का उपादान है। विना धर्म के साहित्य का निर्माण नहीं हो सकता। पृथ्वी के सभी देशों के साहित्य की नींव धर्म है। साहित्य की पुष्टि और विस्मृति अज्ञेयवाद और आध्यात्मिकवाद से होती है। विलासिता और जड़वाद का प्राबल्य होने से साहित्य की अवनति होती है। भारतवर्ष में एक हज़ार वर्ष तक बौद्ध धर्म का प्रावल्य रहा। बौद्ध धर्म का आविर्भाव दुःखवाद में हुआ है। संसार दुःखमय है, क्योंकि वह जन्म, जरा, मृत्यु और व्याधि से ग्रस्त है। संसार में मुक्ति पाने का उपाय बतलाने के लिए संन्यास का पथ श्रेयस्कर माना गया। जब बौद्ध मत शून्यवाद में परिणत हुआ तब लोगों के चित्त में केवल संशयावस्था थी। बौद्ध-सङ्घों में अनाचार फैलने लगा। सर्वसाधारण भी सदाचार की अवहेलना करने लगे। धर्म के तत्व रहस्यमय हो गये। दार्शनिक विद्वान शुष्क तर्कजाल में पड़ गये। भगवान शङ्कराचार्य ने हिन्दू समाज का पुनरुद्धार किया। उनका मत मायावाद पर अवलम्बित है। यति-धर्म और संन्यास मार्ग पर उन्होंने भी ज़ोर दिया। उनके अद्वैतवाद का प्रभाव समग्र हिन्दू-साहित्य पर पड़ा। उसी समय भिन्न भिन्न स्मृतियों की भी रचना हुई। इस प्रकार नव हिन्दू धर्म की सभी व्यवस्थायें संस्कृत-भाषा में लिपिबद्ध हुईं। जनसाधारण से उनका ज़रा भी सम्पर्क न था। वहाँ तक उनका प्रवेश नहीं था। इसका परिणाम यह हुआ कि धार्मिक कृत्यों के आडम्बर में सदाचार का लोप हो गया। स्मार्त धर्म के प्रभाव से कृत्रिम आचार-व्यवहारों की बड़ी प्रबलता हो गई। जाति भेद दृढ़ हो गया। ऊँच-नीच का बहुत ख्याल रक्खा जाता था। इसी समय मुसलमानों ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया। मुसलमानों के कारण यह भेद-भाव और भी बढ़ गया। विद्वानों ने

मनस्तुष्टि के लिए स्मृति, न्याय और दर्शनशास्त्र की जटिल समस्यायें थीं। पर उनसे सर्वसाधारण को सन्तोष नहीं हो सकता था। उन्हें तो लौकिक साहित्य की आवश्यकता थी। मुसलमानों के आगमन के कोई दो सौ साल बाद प्रचलित भाषाओं में नवीन साहित्य का निर्माण होने लगा। यह साहित्य वैष्णव धर्म के आन्दोलन का परिणाम था। जब हिन्दी में धार्मिक भाव प्रकट होने लगे तब पण्डितों ने उसका खूब विरोध किया। संस्कृत भाषा विद्वानों की भाषा थी। हिन्दी-साहित्य को जनता ने तो अपनाया पर विद्वानों ने उसको सदैव तिरस्कार की दृष्टि से देखा। 'भाषा' के प्रति सदैव उनका अवज्ञा का ही भाव था। परन्तु विद्वानों से अनादृत होने पर भी हिन्दी-साहित्य का प्रचार बढ़ने लगा। इसका एक मात्र कारण वैष्णव धर्म का प्रभाव था। रामानुज के समय से रामानन्द के समय तक वैष्णव सम्प्रदाय में उच्च वर्ण के ही लोग दीक्षा ग्रहण करते थे और उन्हें ही दीक्षा देने का अधिकार था। परन्तु रामानन्द ने सर्वसाधारण के लिए धर्म का पथ प्रशस्त कर दिया। धर्म केवल ब्राह्मण और क्षत्रियों की ही साधना का विषय नहीं रहा। रामानन्द की कृपा से जुलाहे, मोची और डोम भी उसकी साधना मे निरत होने लगे। रामानन्द के ऐसे शिष्यो मे कबीर प्रधान थे। कबीर ने भी अपना सम्प्रदाय चलाया। उनका धर्म-मत बहुत उदार है। उसमें ज़रा भी सङ्कीर्णता नहीं है। आचार-व्यवहार की कृत्रिमता और पूजा के आडम्बर को उन्होंने सर्वथा त्याज्य समझा। निर्गुण की उपासना प्रारम्भ हुई। निराकार वादी इन साधकों की उपासना शास्त्रों के अनुशासन से मुक्त थी, पर भाव और सौन्दर्य-प्रेम से पूर्ण थी।

भारतीय साहित्य में सर्वत्र त्याग की ही महिमा वर्णित

कबीर का घर सिखर पर जहां रपटी गैल।
पांव न टिकै पिपीलिका, पण्डित लादे बैल।

वैष्णव साधकों ने मिथ्या आडम्बर को धर्म नहीं समझा। उन्होंने जीवन में ही सत्य की उपलब्धि का उपदेश दिया।

(२)

हिन्दी के आदि काल में जितने सन्तों ने अपने उपदेशों को पद्य-बद्ध किया है उनमें कबीर सबसे प्रधान हैं। उनका जन्म उस काल में हुआ था जब ब्राह्मण-धर्म से भारत में आन्दोलन हो रहा था। हिन्दू-समाज में धर्म की जो कृत्रिम मर्यादा बना दी गई थी उसके कारण समाज बड़ा सकुचित हो गया था। धर्म केवल स्मृति-शास्त्र का अनुशासन-मात्र था और सदाचार आडम्बर। कबीर नीच कुलोत्पन्न थे। अतएव उन्हें कोई भी ब्राह्मण धर्म का उपदेष्टा नहीं स्वीकार करता था। कबीर तत्कालीन प्रचलित भाषा में धर्मोपदेश किया करते थे और उस समय धर्म के सभी अनुशासन संस्कृत भाषा में निबद्ध थे। कबीर ने ब्राह्मणों के इस धर्माधिकार पर और संस्कृत के एकाधिपत्य पर सदैव आक्षेप किया है।

संस्कृतहि पण्डित कहैं बहुत करैं अभिमान।
भाषा जानि तरक करैं ते नर मूढ़ अजान।
कलि का ब्राह्मन मसखरा ताहि न दीजै दान।
कुटुम्ब सहित नरकै चला साथ लिया जजमान।
पण्डित और मसालची दोनों सूझै नाहिं।
औरन को करैं चांदना आप अंधेरे माहिं।

काल खड़ा सिर ऊपरे जागु विराने मीत।
जाको घर है गैल मों सो क्या सोवै निश्चीत।

सिर पर काल खड़ा है। हम तो अभी बीच में ही
मार्ग में ही पड़े हैं। हम भला निश्चिन्त कैसे रह सकते
शरीर नश्वर है। प्रतिदिन वह क्षीण ही होता जा रहा है—

काला काठी काल घुन यत्न यत्न सों खाय।
काया मध्ये काल बस मर्म न कोऊ पाय।

अर्थात् इस शरीर रूपी लकड़ी को काल रूपी
खा रहा है। शरीर में ही तो काल का निवास है और
उसीकी रक्षा किया चाहते हैं।

मन सागर मन्सा लहर बूड़े बहे अनेक।
कहे कबीर ते बाँचि हैं जिनके हृदय विवेक।

अर्थात् हृदय में वासनाओं की तरंगे लहरा रही है
कितने ही इसमें नष्ट हो गये हैं। जिनमे विवेक है वही ब
सकते हैं।

मनुष जन्म दुर्लभ अहै होय न दूजी बार।
पक्का फल जो गिरि परै बहुरि न लागै डार।

अर्थात् मानव-जीवन दुर्लभ है। एक बार इसका पत
हुआ तो फिर उद्धार होना नही है। इसलिए हमे मन, वच
और कर्म तीनो से संयम कर चलना चाहिए। वचन का म
महत्व है। कटु वचन कहने से भी हिंसा होती है—

साधु भये तो क्या भये जो नहि बोले विचार।
हते पराया आत्मा जीभ लिये तरवार।

अर्थात् कटु वचन बोलने वाला अपनी जीभ रूपी

साधारण नहीं। सच तो यह है कि मन के ही वश में सब रोग हैं। पर भगवान् का आश्रय लेने से सभी सम्भव है।

मैं अपराधी जनम का नख सिख भरा विकार।
तुम दाता दुख भंजना मेरो करो उबार॥

अर्थात् हम जन्म के अपराधी हैं, नख से शिखर तक हममें दोष है। पर तुम दुःखों को नष्ट करने वाले हो। तुम्हीं उद्धार करो।

मेरा मुझको कुछ नहीं जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपता क्या लागे है मोर॥

इसके लिए हमको भगवान के चरणों में सर्वस्व-समर्पण कर देना चाहिए। जो कुछ है सब उसी का है। अतएव उसी की वस्तु उसी को सौंप देने में हमारी हानि ही क्या है। यह सर्वस्व-समर्पण कठिन नहीं है। प्रेम से ही यह सम्भव है। प्रेम से ही जगदीश्वर प्रसन्न हो जाते हैं।

नैनों की करि कोठरी पुतली पलँग बिछाय।
पलकों की चिक डारि के पिय को लिया रिझाय॥
जल में बसै कमोदिनी चन्दा बसै अकास।
जो है जाको भावता सो ताही के पास॥
पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ पंडित हुआ न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय॥

यही सहज साधन है, यही सरल पथ है। प्रेम से ही मनुष्य-मात्र की प्रवृत्ति होती है। प्रेम से ही ज्ञान [illegible] प्रकट होते हैं। प्रेम से ही हृदय में प्रकाश और [illegible] का नाश नहीं रह जाता। कबीर इसी प्रेम में मस्त हैं। प्रेम की [illegible] में निरन्तर [illegible] रहे हैं —

शब्द सँभारे बोलिए शब्द के हाथ न पाव ।
एक शब्द करै औषधि एक शब्द करै घाव ।

शब्दों को खूब सम्हालकर कहा करो। उसके हाथ पैर नहीं होते, पर एक से चोट पहुँचती है और दूसरे से हृदय शीतल होता है।

पूरा साहेब सेइए पूरा होइके आइ ।
पूरा के पूरा मिले पूरा पुरही लखाइ ।

सेवक को मन, वचन, कर्म से पूर्ण होकर उस पूर्ण की सेवा करनी चाहिए। पूर्ण को ही पूर्ण मिलेगा।

क्षमा शील जब ऊपजै अलख दृष्टि तब होइ ।
बिना शील उपजै नहीं कोटि कथै जो कोइ ।

उस अलक्ष्य को देखने के लिए हृदय मे क्षमा और शील चाहिए।

शील रत्न सब ते बड़े सब रतन की खान ।
तीन लोक की सम्पदा बसी शील में आन ।

सब रत्नो मे शील-रत्न ही श्रेष्ठ है। उसी मे त्रिभुवन की सम्पत्ति है।

जहँ आपा तहँ आपदा जहाँ लोभ तहँ पाप ।
जहाँ दया तहँ दृढता जहाँ क्षमा तहँ आप ।

जहाँ अहङ्कार है वहाँ आपत्ति है, जहाँ लोभ है वहाँ पाप है, जहाँ दया है वहाँ दृढता है और जहाँ क्षमा है वहां स्वयं जगदीश्वर है।

मन सब पर असवार है मनका पेड अनेक ।
जो मन पर असवार है सो कोइ विरला एक ।

मन को वशीभूत करना ही चाहिए। पर यह काम

गगन गरजि बरसै अमी, बादल गहिर गंभीर।
चहुदिसि दमकै दामिनी भीजैं दास कबीर॥

परन्तु संसार मिथ्या आडम्बर में पड़ा हुआ है। उसे कुछ ज्ञान नहीं है। कबीरदासजी बार बार यही कह रहे हैं — कब तक तुम अज्ञान में पड़े रहोगे। इसी अज्ञान में पड़कर तुम अपना सर्वस्व खो बैठे। इस से अधिक और क्या पागलपन है। कहां है तुम्हारा प्रियतम। वह तो न जाने कब से तुम्हें छोड़ कर चलागया है। तुम्हे तो इसकी खबर तक नहीं है। पर तुम जागोगे कैसे? तुम्हारे हृदय पर इन शब्दों का कुछ प्रभाव भी पड़ता है क्या?

जाग पियारी अब का सोवै।
रैन गई दिन काहे को खोवै॥
जिन जागा तिन मानिक पाया।
तैं बौरी सब सोय गवाया॥
पिय तेरे चतुर तू मूरख नारी।
कबहु न पिय की सेज संवारी॥
हौ बौरी बौरा पन कीन्हो।
भर जोबन अपना नहि चीन्हो॥
जाग देख पिय सेजन तेरे।
तोहि छाँडि उठि गये सवेरे॥
कहै कबीर सोई जन जागै।
सबद बान उर अन्तर लागै॥

शब्दों की भी शक्ति कितनी विलक्षण है। जो इसे जानते हैं वे शब्दो की ही साधना में निरत रहते हैं—

साधो शब्द साधना कीजै।
जासु शब्द ते प्रगट भए सब शब्द सोई गहि लीजै।

शब्दहि गुरु शब्द सुनि सिख ये शब्द सो विरला बूझै।
सोई शिष्य औ गुरु महातम जेहि अन्तरगत सूझै।
शब्दै वेद पुरान कहत हैं शब्दै सब ठहरावैं।
शब्दै सुर मुनिसंत कहत हैं शब्द भेद नहिं पावैं॥
शब्दै सुनि सुनि भेद धरत हैं शब्द कहै अनुरागी।
षट् दरसन सब शब्द कहत हैं शब्द कहै वैरागी॥
शब्दै माया जग उतपानी शब्दै करै पसारा।
कह कबीर जहं शब्द होत है तवन भेद है न्यारा।

उस न्यारे भेद को जानने के लिए हमें गुरु–सद्गुरु—का आश्रय लेना पड़ेगा।

चल सतगुरु की हाट ज्ञान बुध लाइए।
कर साहब सों हेत परम पद पाइए॥
सतगुरु सब कछु दीन देन कछु नाहि रह्यो।
हमहि अभागिनि नारि छोरि सुख दुख लह्यो॥
गईं पिया के महल पिया संग ना रची।
रह्यो कपट हिय [illegible] मान लज्जा भरी।
जहा [illegible] चढ़ौं गिरि गिरि परौ।
[illegible]॥
पिया [illegible] है।
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]।
[illegible]
[illegible] है
[illegible] हैं

कह कबीर समझाय समुझ हिरिदे धरो।
जुगन जुगन कर राज कुमति अस परिहरौ॥

यही हम लोगों का परम पुरुषार्थ है। यही हम लोगों का एक मात्र लक्ष्य, एक मात्र ध्येय है। राह विकट है, परन्तु हमें तो आगे बढ़ना ही होगा। संकट का समय है, परन्तु दिन तो काटना ही पड़ेगा। उसी प्रियतम की स्मृति को अपने हृदय में—अपने अन्तस्तल में—स्थापित कर हम 'चिरशान्ति' पा सकेंगे। इस अनन्त, अपार यात्रा में वही हमें युक्ति बता सकता है, वही हमें राह दिखला सकता है।

कैसे दिन कटि हैं, जतन बताये जइयो।
एहि पार गंगा वोहि पार यमुना
बिचवा मड़इया हमको छवाये जइयो।
अंचरा फारि के कागद बनाइन
अपनी सुरतिया हियरे लिखाए जइयो।
कहत कबीर सुनो भाई साधो
बहियां पकरि के रहिया बताये जइयो।

तुम्हारे हृदय पर तो मोह का आवरण पड़ा है। एक बार उस आवरण को हटाकर देखो तो सही। तुम्हारा प्रियतम कहीं दूर नहीं है। पार्थिव प्रलोभनों को दूर करो। यह तो व्यर्थ, आडम्बर मात्र है। इनसे हृदय को बिलकुल शून्य कर, एक बार ज्ञान का दीपक जलाओ तो सही। प्रियतम से भेंट होगी, सर्वत्र आनन्द छा जायगा, हृत्तन्त्री पर एक अपूर्व रागिनी बजने लगेगी।

घूंघट का पट खोल रे, तोहे पीव मिलेंगे।
घट घट में वह साँई रमता, कटुक वचन मत बोल रे।
धन जोबन को गरब न कीजे, झूठा पंचरङ्ग चोल रे।

देह नश्वर है, कब छूट जाय, कौन जानता है। पर हम अज्ञान में—मोह में—पड़े रहकर अपना जीवन-काल व्यर्थ क्यों करें। जब तक शरीर में प्राण है तब तक हम उससे लाभ क्यों न उठावें, उसे साधना में क्यों न लगावें। साधना के लिए आवश्यक है सन्तोष। मन को वशीभूत करना होगा। सन्तोष-वृत्ति को धारण करना होगा। ज्ञान का आश्रय लेना होगा। जब तक जीवन है तब तक उसी जगदीश्वर का ध्यान करना होगा। तभी तो यह ज्ञान-ज्योति बनी रहेगी।

अँधियरवा में ठाढ़ि गोरी, का करलू।
जब लगि तेल दिया में बाती, एही अँजोरवा बिछाय धरलू।
मन का पलँग सन्तोष बिछौना, ज्ञान क तकिया लगाय रखलू।
जरि गया तेल बुझाइ गई बाती, सुरत में सुरत समाय रखलू।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, जोतिया में जोतिया मिलाय रखलू।

जो अज्ञान में पड़ा है उसे केवल सद्‌गुरु ही ज्ञान दे सकता है। वही उसे भवसागर से बचा सकता है। वही उसे बन्धन-मुक्त कर सकता है।

तोहि मोरी लगन लगाये रे फकिरवा।
सोवतही मैं अपने मंदिर में सबदन मारि जगाये रे फकिरवा।
बूड़त हो भव के सागर में, बहिया पकरि समुझाये रे फकिरवा।
एकै वचन वचन नहीं दूजा तुम मोसे बन्द छुड़ाये रे फकिरवा
कहैं कबीर सुनो भाई साधो प्रानन प्रान लगाये रे फकिरवा

लोग व्यर्थ आडम्बर में पड़े रहते हैं। साधु की सङ्गति हो, गुरु की कृपा हो और हृदय में भक्ति हो, मनुष्य परम पद प्राप्त कर लेगा। जिसके हृदय में भगवान हैं उसके लिए तीर्थ स्थान क्या है। उसके लिए पावन दूसरा कौन है?

सो चादर सुर नर मुनि ओढ़े, ओढ़ि के मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर जतन से ओढ़ी, ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया।

देह तो दूसरे की वस्तु है। उस पर हमारी इच्छा भी नहीं है। किसी न किसी दिन उसे छोड़ना ही पड़ेगा। देह ही क्यों, संसार से भी हमारा यही सम्बन्ध है। उसे छोड़ने में दुःख क्या। जो अज्ञ हैं उन्हीं के लिए यह सबसे अधिक दुःखद है।

सुगना पिंजरा छोरि भागा।
इस पिंजरे में दस दरवाजा दस दरवाजे किवरवा लागा।
अखियन सेती नीर बहन लाग्यो अब कस नाहिं तू बोलत अभागा।
कहत कबीर सुनो भाई साधो उड़िगो हंस टूटि गयो तागा॥

पिंजड़े में पक्षी बन्द था। उस पिंजड़े में दस दस तो दरवाज़े थे। जब जिस दरवाज़े से उसे जाने की राह मिली वह उड़ कर चला गया। इसमें अचरज की बात ही क्या है।

प्राणहीन देह से अधिक निस्सार वस्तु और क्या है। प्राण के चले जाने पर काया के पास रह ही क्या गया। उस का तो सर्वस्व ही लुट गया। वह जिस के उपभोग की सामग्री थी वह तो विरक्त होकर चला ही गया। उसे अब जला देना ही ठीक है।

कौन ठगवा नगरिया लूटल हो।
चन्दन काठ के बनल खटोलना ता पर दुलहिन सूतल हो।
उठो सखी मोर माग सवारो दुलहा मोसे रूसल हो।
आये जमराज पलग चढ़ बैठे नैनन आंसू टूटल हो।
चारि जने मिल खाट उठाइन चहुदिसि धू धू ऊठल हो।
कहत कबीर सुनो भाई साधो जग से नाता छूटल हो।

देह नश्वर है, कब छूट जाय, कौन जानता है। पर हम अज्ञान में—मोह में—पड़े रहकर अपना जीवन-काल व्यर्थ क्यों करें। जब तक शरीर में प्राण है तब तक हम उससे लाभ क्यों न उठावें, उसे साधना में क्यों न लगावें। साधना के लिए आवश्यक है सन्तोष। मन को वशीभूत करना होगा। सन्तोष-वृत्ति को धारण करना होगा। ज्ञान का आश्रय लेना होगा। जब तक जीवन है तब तक उसी जगदीश्वर का ध्यान करना होगा। तभी तो यह ज्ञान-ज्योति बनी रहेगी।

अंधियरवा में ठाढ़ि गोरी, का करलू।
जब लगि तेल दिया में बाती, एही अँजोरवा बिछाय धरलू।
मन का पलँग सन्तोष बिछौना, ज्ञान क तकिया लगाय रखलू।
जरि गया तेल बुझाइ गई बाती, सुरत में सुरत समाय रखलू।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, जोतिया में जोतिया मिलाय रखलू।

जो अज्ञान में पड़ा है उसे केवल सद्गुरु ही ज्ञान दे सकता है। वही उसे भवसागर से बचा सकता है। वही उसे बन्धन-मुक्त कर सकता है।

तोहि मोरी लगन लगाये रे फकिरवा।
सोवतही मैं अपने मंदिर में सबदन मारि जगाये रे फकिरवा।
बूड़त ही भव के सागर में, बहियाँ पकरि समुझाये रे फकिरवा।
एकै वचन वचन नहीं दूजा तुम मोसे बंद छुड़ाये रे फकिरवा।
कहे कबीर सुनो भाई साधो तन मन तुम पाये रे फकिरवा।

मनुष्य व्यर्थ आडम्बर में पड़ा रहता है। साधु की सङ्गति हो, गुरु की कृपा हो और हृदय में भक्ति हो तो मनुष्य परम पद प्राप्त कर लेगा। जिसके हृदय में भगवान हैं उसके लिए तीर्थ स्थान क्या है। उसके लिए पावन दूसरा कौन

भाई रे ऐसा पंथ हमारा।

है पख रहित पंथ गति पूरा अवरण एक अधारा।
वाद विवाद काहू सौं नाहीं माहिं जगत में न्यारा।
सम दृष्टी सू भाई सहज में आप ही आप विचारा।
मैं, तैं, मेरी यह मत नाहीं निरवैरी निरविंकारा।
पूरण सबै देखि आया पर निरालाभ निरधारा।
काहू के सङ्गी मोह न ममिता सङ्गी सिरजन हारा।
मन ही मन सू समझि अपाना आनँद एक अधारा।
काम कलपना करे न कीजे पूरण ब्रह्म पियारा।
इहि पँथ पहुँचि पार गहि दादू सो तत सहजि सँभारा।

सन्तों के मार्ग में पक्षपात नहीं, वर्ण-विचार नहीं, वाद-विवाद नहीं, उसमें सम-दृष्टि रहती है। उसमें ममत्व के लिए स्थान नहीं रहता और न वैर-भाव और विकार के लिए। पूर्ण को देखने वालों के लिए अपने पर कहीं आसक्ति हो सकती है। भगवान ही एक-मात्र उनके सहचर हैं। पूर्ण ब्रह्म ही जिन्हें प्रिय है उन्हें कभी काम-कलपना कैसे हो सकती है। वे यही मार्ग ग्रहण कर भवसागर पार कर जाते हैं।

दादू दयाल के कितने ही पद बडे सरस हैं—

मन रे राम बिना तन छीजइ।

जब यह जाइ मिलइ माटी में तब कहु कइसहि कीजइ॥
पारस परम कँचन करि भीजइ सहज सुरत सुखदाई।
माया बेलि विषै फल लागे तापर भूलु न भाई॥
जब लगि प्रान पिण्ड है नीका तब लगि तू जिनि भूलइ।
यह संसार सेमर के सुख ज्यों तापर तूँ जिनि फूलइ।
औरउ यही जानि जग जीवन समउ देखि सच पावइ।
अंग अनेक आन मति भूलइ दादू जिनि उँहकावइ।

अर्थात् हे मन, बिना राम यह शरीर क्षीण होता जा रहा है। जब यह मिट्टी में ही मिल जायगा तब क्या होगा। भगवान् का स्मरण करना सदैव सुखद है। इसी रस को स्पर्श कर अपने को तू सुवर्ण बना ले। यह माया की लता लगी हुई है। इसमें विषय के ही फल लगे हैं। इन पर तू लुब्ध मत हो। जब तक शरीर में प्राण है तब तक तू प्रलाप मत कर। यह तो सेमर के फूल के समान है। तू बहक मत जा, यही अवसर है। इसी का सदुपयोग कर ले।

अजहुँ न निकसे प्रान कठोर।
दरसन बिना बहुत दिन बीते सुन्दर प्रीतम मोर।
चार पहर चारहु जुग बीते रैन गँवाई भोर।
अवधि गये अजहूँ नहिं आये कतहुँ रहे चित चोर।
कबहूँ नैन निरखि नहिं देखे मारग चितवत तोर।
दादू अइसहि आतुर विरहिन जइसहि चन्द चकोर।

प्रियतम के दर्शन के बिना कितने दिन हो गये। अवधि बीत गई। पर वे नहीं आये। उनके मार्ग की प्रतीक्षा ही हो रही है।

बाबा मलूकदास जी ने अपना परिचय कितना अच्छा दिया है—

दर दिवाने बावरे अलमस्त फकीरा।
एक अकीदा ले रहे ऐसे मन धीरा।
प्रेम पियाला पीवते बिसरे सब साथी।
आठ पहर यों झूमते ज्यों माता हाथी।
उनकी नजर न आवते कोइ राजा रंक।
बंधन तोड़े मोह के फिरते निहसंक।
साहब मिल साहब भये कछु रही न तमाई।
कह मलूक तिन घर गये जहँ पवन न जाई।

प्रेम से उन्मत्त, सम-दृष्टि से सम्पन्न, निर्विकार, निश्शङ्क सन्त भगवान का साक्षात्कार करते हैं। तब वही ईश्वर-मय, ईश्वर ही, हो जाते हैं। वे उस परम धाम में पहुंच जाते हैं जहां पवन की भी पहुँच नहीं। मलूकदास की निम्नलिखित उक्ति में भी विश्वास की कितनी दृढ़ता है—

दीन दयाल सुनी जब तें तब तें हिय में कछु ऐसी बसी है।
तेरो कहाइ के जाउँ कहाँ मैं तेरे हित के पर खैंच कसी है।
तेरोइ एक भरोस मलूक को तेरो समान न दूजो जसो है।
एहो मुरारि पुकारि कहौं अब मेरी हँसी नहि तेरी हँसी है।

सुन्दरदास जी ने कितना अच्छा कहा—

बोलिये तौ तब जब बोलिबे की सुधि होइ
न तौ मुख मौन गहि चुप होइ रहिये।
जोरिये तौ तब जब जोरिबे की जानि परै
तुक छन्द अरथ अनूप जामें लहिये।
गाइये तौ तब जब गाइबे को कण्ठ होइ
स्रोन के सुनत ही मन जाइ गहिये।
तुक भंग छन्द भंग अरथ मिलै न कछु
सुन्दर कहत ऐसी बानी नहीं कहिये।
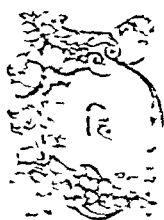
डाला। जीवन और मृत्यु के द्वन्द्व में वे अलग हो गये। विश्व के प्रवाह से उनमें कोई विकार नहीं आया। वे सिद्धावस्था को प्राप्त कर चुके। उनकी गणना मनुष्यों में नहीं, देवों में होने लगी। परन्तु सर्व-साधारण के लिए क्या उपाय है? इसके बाद जो साधक हुए वे भगवान् की लीला को पृथ्वी पर प्रत्यक्ष देखना चाहते थे। वे उसके आनन्द-रस का उपभोग करना चाहते थे। इसे उन्होंने सहज साधनाओं से ही प्राप्त कर लिया। कृच्छ्र साधन-मात्र से भगवान की लीलाओं का रहस्य हम नहीं जान सकते। उन्होंने कहा कि हमने न तो घर छोड़ा और न हम वन ही गये। हमने कोई भी क्लेश स्वीकार नहीं किया। सहज प्रेम से हमने संसार को उसी के रूप में देखा। ये साधक विश्व के प्रवाह को क्षण भर भी रोक रखना नहीं चाहते। यदि विश्व का प्रवाह रुक जाय तो समस्त सौन्दर्य का प्रवाह स्थिर होकर मृत्यु-पुञ्ज में परिणत हो जायगा। भक्तगण किसी को भी रोककर, बाधा देकर स्थिर करना नहीं चाहते। वे मिथ्या से कलुषित नहीं होते। नदी के प्रवाह के समान माया का प्रवाह बहता रहता है।

पहिले साधक-गण असीम और निराकार के ध्यान में मग्न होकर रूप और रस से दूर हट गये थे। परन्तु भक्तों का सौन्दर्य-प्रिय मन जैसे भाव के लिए उत्सुक था वैसे ही रूप के लिए व्याकुल था। दोनों को उपलब्ध करने के लिए उन्होंने समस्त पृथ्वी को खोज डाला। अन्त में रूप में ही उन्होंने भाव को पाया। जिसके लिए वे जगत भर ढूंढ़ते फिरे, वह कहीं और नहीं, घर में ही है। प्राण में—जीवन की अजस्र धारा में— बिना डूबे घट का यह रहस्य समझ में नहीं आता। इसीलिए इतने दिनों तक जीवन से पृथक् कर

साधक-गण उसे समझ न सके। जिन्होंने प्राण के अतल रस में गोता लगाकर देखा उन्होंने रूप के रस का आविष्कार कर लिया।

साधारण मनुष्य जड़ के समान रूप की पूजा करता है, परन्तु वह रूप को देखता नहीं। इसी से विश्व में सौन्दर्य-रस का जो स्वाद, जो आनन्द है, वह व्यर्थ ही हो रहा है। उस आनन्द को पाने के लिए हमें जागृत होना पड़ेगा। जागृत-आत्मा ही उस आनन्द की उपलब्धि कर सकता है। जो जड़त्व की निद्रा से अवच्छन्न हैं वे उस स्वाद को कहां से पा सकते हैं। प्रेम न रहने से इस रहस्य का उद्घाटन नहीं हो सकता। धर्म के व्यर्थ आचार से भक्तों का अन्त करण चूर्ण नहीं होता। भगवान के जो सुन्दर नाम हैं उनको उपयुक्त माला विश्व के आकार रूप हैं। विश्व के जो आकार निरन्तर परिवर्तित हो रहे हैं उन्हीं से भगवान् की माला का निरन्तर जप हो रहा है। घट में ही सब सुख और आनन्द है। घट के इस आनन्द का स्वाद पाते ही सभी कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। घट के इस आनन्द का जिसने अनुभव नहीं किया वह कभी सुखी नहीं हुआ।

लोग कहते हैं कि [illegible] जो विश्व-चक्र घूम रहा है वही तो अमृत-दान करता है। काल के घूमने से [illegible] टपकता है वैसे ही विश्व-चक्र के परिभ्रमण से नित्य-सौन्दर्य का अनुभव होता है। यदि यह चक्र कहीं बन्द हो जाय तो वस्तु के विषम पुञ्ज में पड़ कर संसार नष्ट हो जाय। यह चक्र निरन्तर चल रहा है इसी-लिए अमृत महारस की धारा भी निरन्तर बह रही है। विश्व की रक्षा के लिए यह चक्र घूम रहा है जिससे हम

परिवर्तनशील आकार कहते हैं वे मानों पुकार कर रहे हैं कि हम सब अगम और अगोचर के मन्दिर की यात्रा कर रहे हैं। इस गोचर-मूर्ति और सौन्दर्य के साथ साथ हम भी उसी अगोचर के मन्दिर की यात्रा कर रहे हैं। यह अखिल ब्रह्माण्ड भगवान् का लीला-क्षेत्र है। यहां सदैव सौन्दर्य परिस्फुट होता रहता है, यहां सर्वदा उत्सव होते रहते हैं।

जो भक्त रूप और सौन्दर्य के लिए इतने व्याकुल हैं वे रूप से अतीत, निर्विकार और निराकार के धाम से अपरिचित नहीं हैं। सच तो यह है कि उन्होंने रूप के अतीत को देख लिया है, इसी से वे उस रूप का उपभोग कर सकते हैं। अपरूप से ही रूप की सार्थकता है। भाव में ही आकार की सफलता है। तिल का प्राण तेल है, फूल का जीवन सुगन्ध है, दूध के भीतर नवनीत ही जीवन है। इसी प्रकार परमात्मा में ही आत्मा का यथार्थ जीवन है।

हम लोगों में विरह की बड़ी व्याकुलता है। यह विरह उसी की तृष्णा है। उस अपरूप से विरह होने के ही कारण हम इस रूप-वैचित्र्य को देख सकते हैं। यदि यह सृष्टि अकेले उसी की सृष्टि होती तो क्या हमें उससे किसी प्रकार का आनन्द मिलता। यह सृष्टि हमारी भी सृष्टि है। यदि हम न रहते तो यह सृष्टि आती कहा से। दूध बछड़े की तृप्ति के लिए है, बछड़ा होने से ही गाय दूध देती है, दूध देकर गाय को सुख होता है और दूध पाकर बछड़े को। बछड़े के प्रति गाय में जो प्रेम है वही उसके हृदय में रस होकर भरा रहता है, इसलिए दूध बछड़े की सृष्टि है। इसी तरह हमारे प्रेम से ही विधाता की सृष्टि है। चिरकाल से

विशुद्ध प्रेम लोकातीत, उच्छृङ्खल होता है। वह किसी भी बन्धन को स्वीकार नहीं करता। वह उच्छृङ्खल प्रेम जो लोक-मर्यादा का उल्लङ्घन कर, लोक-लज्जा को छोड़कर, लोक-निन्दा को ग्रहणकर, अपने मे ही सार्थकता प्राप्त करता है, उसका मूल्य संसार निर्धारित नहीं कर सकता। उद्धव ने गोपिकाओं की यही विक्षिप्तावस्था देखकर उन्हें जब ज्ञान का उपदेश दिया उस समय गोपियों ने कहा—

मति अति आपकी अनल अवला सी लगै
सागर सनेह कहो कैसे पार पावेगी।
खोलिए न जीभ अरु पीजिए न नाम, इत
वलदेव ब्रजराज जू की सुध आवेगी।
सुनतहि प्रलय पयोधि मांहि एक ऐसी
कहर करन हारी लहर सिधावेगी।
राधे दृग-सलिल-प्रवाह मांहि आज ऊधो
रावरे समेत ज्ञान गाथा वहि जावेगी।

गोपियों के द्वारा मध्य युग के कवियों ने उद्धव को क्या उत्तर दिलवाया है सन्तो को ज्ञान-गाथा का ही उत्तर दिया है।

धर्म कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो वाहर से आरोपित की जाती हो। जब तक धर्म का सम्बन्ध जीवन से बना रहता है तब तक उसका विकास होता रहता है। परन्तु जब धर्म जीवन पर आरोपित किया जाता है तब उसमे स्थिरता आ जाती है। तब धर्म जीवन का अनुसरण नहीं करता किन्तु जीवन धर्म का अनुसरण करता है। धर्म का एक सांचा तैयार हो जाता है जिसमे मनुष्य का जीवन ढाला जाता है। तब जीवन मे कृत्रिमता आ जाती है। कृत्रिमता

के इस युग में जो साहित्य निर्मित होता है उसमें भी यही बात दिखाई देती है। सौन्दर्य के जिस अनन्त रूप की अभिव्यक्ति के लिए काव्यों की सृष्टि होती है वह अत्यन्त क्षुद्र हो जाता है। पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में वैष्णव-धर्म की उन्नति हुई। यह धर्म भारतीय-जीवन में स्वाभाविकता लाने के प्रयास का फल था। भारतीय-जीवन में कृत्रिमता का जो बन्धन फैला हुआ था, उसी के विरुद्ध वैष्णव गुरुओं ने आन्दोलन किया था। कबीर ने तत्कालीन समाज का अनुशासन तोड़ा और उसी के साथ साहित्य की कृत्रिम मर्यादा भी भङ्ग की। कबीर के पहले जिस प्रकार समाज की रक्षा के लिए धर्म की मर्यादा निश्चित की गई थी उसी प्रकार साहित्य की रक्षा के लिए कला की भी सीमा निश्चित की गई थी। इन दोनों में मनुष्यत्व की उपेक्षा की गई थी। वैष्णव-धर्म और वैष्णव-साहित्य ने समाज में स्वाभाविकता लायी। पर अन्त में इन दोनों के ही साँचे तैयार हो गये। वैष्णव-धर्म में साम्प्रदायिकता आ गई और उसी के साथ वैष्णव-साहित्य की महत्ता भी नष्ट हो गई। भक्ति का स्थान भावुकता ने ले लिया। पर वैष्णव साहित्य के कारण हिन्दी-साहित्य में एक नव आदर्श की सृष्टि अवश्य हो गई। राधाकृष्ण के प्रेम वर्णन से मत्त होकर उन्होंने जिस पवित्र शृङ्गार रस की अवतारणा की उसी के कारण हिन्दी-साहित्य में शृङ्गार रस का अधिकार हुआ। हिन्दी में ब्रज भाषा का प्राधान्य हुआ और जब तक ब्रजभाषा का यह प्राधान्य बना रहा तब तक हिन्दी के कवियों ने प्रेम के माधुर्य में ही कला की सार्थकता समझी। वैष्णव-साहित्य ने आत्मा के लिए शरीर और मन की उपेक्षा नहीं की थी। यह सच है कि मनुष्य केवल शरीर नहीं है और न मन ही

है। यह भी सच है कि आत्मा की अभिव्यक्ति में ही उसकी सत्ता की चरम सीमा है। पर शारीरिक और मानसिक अवस्थाओं के द्वारा ही उसके यथार्थ रूप का विकास होता है। जिन अवस्थाओं का अतिक्रमण करने से आत्मिक विकास होता है वे सभी कला के उपकरण हैं। अतएव मनुष्य के दैनिक जीवन मे जो रस-धारा बह रही है, जो सौन्दर्य परिस्फुट हो रहा है, उसी के ओर हिन्दी के कवियो ने दृष्टिपात किया। आशा-निराशा, सुख-दुख, संयोग-वियोग, यही भाव उनकी कला के एक-मात्र विषय हो गये। हिन्दी साहित्य मे शृङ्गार-रस का आधिक्य न तो तत्कालीन विलासिता का द्योतक है और न उससे समाज की कोई हानि ही हुई है। हिन्दी के कवियों ने कल्पना के द्वारा एक दूसरा ही जगत्—भाव-जगत्—निर्मित कर डाला था। उस जगत् मे वर्षा हो या ग्रीष्म, सौन्दर्य की रश्मि-छटा सदैव बनी रहती है। वह प्रेम का निकेतन है परन्तु उसका अस्तित्व केवल कवि के हृदय मे है। जगत् से दूर रह कर हिन्दी के कवियो ने सदैव उसी कल्पित लोक मे विहार किया है। अपनी कल्पना के सौन्दर्य मे वे ऐसे डूब गये थे कि यथार्थ जगत् की ओर उनकी दृष्टि कभी गई ही नहीं। वर्षा-ऋतु मे मेघागम देखकर वे किसी वियोगिनी के विरह-दुख से विकल हो गये पर देश के हाहाकार मे उनका चित्त विकृत नहीं हुआ। जब मुगल साम्राज्य की श्मशान भूमि मे भारतीय वैभव का चितानल जल रहा था तब वे नायिका को 'मान' करने का उपदेश दे रहे थे। सच तो यह है कि अपनी कला में ये कवि ऐसे छिप गये हैं कि उनकी रचनाओं मे कहीं उनका हम दर्शन नहीं कर पाते। कभी कभी जब अन्त-र्वेदना से पीडित होकर वे पुकार उठते हैं, तभी हम जान पाते

हैं कि यहां एक मनुष्य का हृदय है। यही कारण है कि हिन्दी-साहित्य में न तो वर्णन-वैचित्र्य है और न विषय-वैचित्र्य है। केवल उक्तियों का ही, उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं, यमकों और अनुप्रासों का ही वैचित्र्य है। इन कवियों ने भाषा में भी कला का वह चमत्कार दिखलाया है कि भाषा ही स्वयं सौन्दर्य की मूर्ति होगई है। सङ्गीत के अर्थ-हीन सप्तस्वरों के समान इनकी शब्द-योजना केवल ध्वनि मात्र है, अपना अर्थ प्रकट करदेती है। प्रत्येक अर्थ-हीन शब्द सार्थक होगया है। उसमें सार्थकता आगई है। यदि कला का अस्तित्व केवल कला के लिए है तो हिन्दी के इन कवियों ने उसी की सृष्टि की है। उसके रसका आस्वादन रसिक ही कर सकते हैं।

> तन्त्री नाद कवित्त-रस सरस राग रति-रंग।
> अनबूड़े बूड़े तिरे जे बूड़े सब अंग॥

इसके अधिकारी सभी नहीं हैं और न सभी के लिए इसकी सृष्टि हुई है। [illegible] कला के प्रेमी [illegible] हैं उनके लिए [illegible]—

> [illegible]
> [illegible]

[illegible]

व्रज-साहित्य के सबसे उज्ज्वल रत्न सूरदास हैं। उन के विषय में विद्वानों की राय है कि उनका जन्म सं० १५४० में हुआ और सं० १६२० में उनका देहावसान हुआ। दिल्ली के समीप सीही नामक ग्राम उनका जन्म-स्थान है। उनके पिता का नाम रामदास कहा जाता है। उन के विषय में यह प्रसिद्ध है कि उनकी दृष्टि-शक्ति नष्ट हो गई थी और तभी से उनकी समस्त इन्द्रियाँ हरि को ओर आकृष्ट हो गईं—

सोइ रसना जो हरि गुण गावै।
नैनन की छवि यहै चतुरता ज्यों मकरन्द मुकुन्दहि ध्यावै।
निर्मल चित्त तौ सोई साँचो कृष्ण बिना जिय और न भावै।
श्रवणनि की जु यहै अधिकाई सुनि रम तथा सुधा रस प्यावै।
कर तेई जो श्यामहि सेवें चरणन चलि वृन्दावन जावै।
सूरदास जैये बलि ताके जो हरि जू से प्रीति बढ़ावै।

सूरदास के गुरु श्री वल्लभाचार्य थे। अपने गुरु पर उनकी अपार भक्ति थी। अपने गुरु के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है —

भरोसो दृढ़ इन चरणन केरो।
श्री वल्लभ नख चन्द्र छटा बिन सब जग माँझ अँधेरो।
साधन और नाहिं या कलि में जासों होत निवेरो।
सूर कहा कहि दुविधि आँधरो बिना मोल को चेरो।

जान पड़ता है कि सूरदास जी को भी अपने उदर-पोषण के लिए कष्ट सहना पड़ा।

मेरो मन मतिहीन गुसाईं।
सब सुख निधि पद कमल छोड़ि श्रम करत स्वान की नाईं।

पतित केस कफ कंठ विरोध्यो कल न परी दिन राती।
माया मोह न छाँड़ै तृष्णा ये दोऊ दुख दाती।
अबला व्यथा दूर करिबे को और न समरथ कोई।
सूरदास प्रभु करुना सागर तुमते होइ सो होई।

कहा जाता है कि अन्त काल में उन्होंने यह पद कहा था—

खंजन नैन रूप रस माते।
अतिसै चारु चपल अनियारे पल पिंजरा न समाते।
चलि चलि जात निकट स्रवनन के उलटि पलटि ताटंक फँदाते।
सूरदास अंजन गुन अटके नतरु कबहिं उड़ि जाते।

सूरदास ने निराकारवाद और निवृत्ति मार्ग को स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने वैष्णव-धर्म की यथार्थ बात को माना है। वह यह कि स्वयं जगदीश्वर मनुष्य का जन्म लेकर मानव-जीवन के समस्त दुःखों और वेदनाओं को स्वीकार करता है। ईश्वर भी एक स्थान में मनुष्य है। वह दूर नहीं है। वह स्वर्ग में नहीं है। वह इसी मर्त्यलोक के सुख-दुःख और उत्थान-पतन में है। मानव-जीवन में जो विभिन्नता है, जो क्षुद्रता है, जो दुर्बलता है उसे स्वीकार कर सूरदास ने मनुष्य-जीवन को ईश्वर के आनन्द और प्रेम की अभिव्यक्ति के रूप में दिखलाया है। समस्त मानव-जीवन को ईश्वर से परिपूर्ण मान कर देखने के धर्म को छोड़कर ग्रहण करने योग्य दूसरा कौन धर्म है। जीवन के सुख-दुःख, हानि-लाभ, संयोग-वियोग और आशा-निराशा में उसी की लीला है। इसी द्वन्द्व में वह आनन्द और प्रेम को पूर्ण करता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भगवान रामचन्द्र जी के ईश्वरत्व का बारम्बार स्मरण दिलाया है। उन्हें शायद सन्देह

था कि लोग भगवान की मानव-लीला को देख कर उनके ईश्वरत्व को न भूल जाँय। सूरदास जी तो भगवान की लीला-वर्णन करते हुए मानो स्वयं उनके ईश्वरत्व को भूल गये हैं। उनकी रचना में कहीं भी संशय का स्वार्थ नहीं है। उसमें पूर्ण मानव-जीवन है, वह जैसा है ठीक वैसा ही है, पर है वह आनन्द से उज्ज्वल। मानव-जीवन में जो एकता है वह प्रेम की है और जो वैचित्र्य है वह प्रेम के लिए है। अतएव प्रेम में ही उन्होंने भगवान के स्वरूप का दर्शन कराया है। वैसे तो भगवान् का रूप अज्ञेय, अचिन्त्य है। उसे जान ही कौन सकता है—

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूंगे मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै॥
परम स्वाद सबही सु निरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन बानी को अगम अगोचर सो जाने जो पावै।
रूप, रेख, गुन, जाति, जुगुति बिनु निरालम्ब मन धावै।
सब विधि अगम विचारति तातै सूर सगुन पद गावै।

और भगवान् की लीलाओं के वर्णन में उन्होंने अमृत-रस की वर्षा कर दी है। जो सगुण है, जो प्रत्यक्ष है, जो आनन्द का परम धाम है, सौन्दर्य की परमावधि है, उसे छोड़कर अन्यत्र जाने की आवश्यकता ही क्या है। जो एक बार इस प्रेम-रस का आस्वादन कर चुका वह ज्ञान के लिए क्यों प्रयास करेगा, गंगा को छोड़कर कुंआ खोदना क्यों चाहेगा।

मेरो मन अन्त कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पच्छी फिरि जहाज पर आवै।
कमल नयन को छांड़ि महातम और देव को ध्यावै।
परम गंग को छांड़ि पियासो दुर्मति कूप खनावै।

जिन मधुकर अम्बुज रस चाख्यो क्यों करील फल खावै।
सूरदास प्रभु काम धेनु तजि छेरी कौन दुहावै।

अब उनका एकबार दर्शन तो कर लीजिए—

शोभित कर नवनीत लिये।
घुटुरुवन चलत रेनु तन मंडित मुख में लेप किये।
चारु कपोल लोल लोचन छवि गोरोचन को तिलक दिये।
लर लटकन मानो मत्त मधुप गन माधुरी मधुर पिये।
कठुला कंठ वज्र केहरि नख राजत है सखि रुचिर हिये।
धन्य सूर एकौ पल यह सुख कहा भयो सत कल्प जिये।

जिसने जीवन मे एक बार क्षण भर के लिए भी इस रूप का दर्शन कर लिया उसका जन्म सार्थक हो गया। अब कृष्ण की एक बात सुन लीजिए—

मैया कबहि बढ़ैगी चोटी।
कितो बार मोहि दूध पियत भइ यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वै है लाँबी मोटी।
काढ़त, गुहत, न्हावत, ओछत, नागिन सी भ्वै लोटी।
काचो दूध पियावत पचि पचि देत न माखन रोटी।
सूर स्याम चिरजीवो दोउ भैया हरि हलधर की जोटी।

इसके बाद वे हठ करने लगे—

आजु मैं गाय चरावन जैहौं।
वृन्दावन के भाँति भाँति फल अपने कर मैं लैहौं।
ऐसी बात कहो जनि बारे देखो अपनी भाँति।
तनक तनक पग चलिहौ कैसे, आवत ह्वै है राति।
प्रात जात गैया लै चारन, घर आवत हैं साँझ।
तुम्हरो कमल वदन कुम्हिलैहै रूमत घामहि माँझ।

यशोदा, तेरो भलो हियो है माई।
कमल-नयन माखन के कारन बाँधे ऊखल लाई।
जो सम्पदा देव-मुनि दुर्लभ सपनेउ दे न दिखाई।
याही तें तू गर्व भरी है घर बैठे निधि पाई।
तब काहू को सुत रोवत सुनि दौरि लेति हिय पाई।
अब काहे घर के लरिका सों करत इती जड़ताई।
बारम्बार सजल लोचन करि रोवत कुँवर कन्हाई।
कहा करौं, बलि जाउँ, छोरती तेरी सौंह दिवाई।
जो मूरति जल थल में व्यापक, निगम न खोजत पाई।
सो जसुमति अपने आंगन में दै कर ताल नचाई।
सुर-पालक, सब असुर संहारक, त्रिभुवन जाहि डराई।
सूरदास, प्रभु की यह लीला निगम नेति नित गाई।

परन्तु कृष्ण का उपद्रव बन्द नहीं हुआ। वह तो बढ़ता ही गया। छिप छिप कर वे इधर उधर माखन कुछ खाते थे, कुछ गिराते थे और बाकी बाँट देते थे। एक दिन यशोदा ने उनके मुख पर दही का कुछ अंश देख ही तो लिया। तब उसने कृष्ण को पकड़ कर पूछा—बता तो सही, सब दही कौन खा गया? इस पर देखिए, कृष्ण ने कैसी अच्छी अपनी सफ़ाई दी है—

मैया मेरी मैं माखन नहिं खायो।
भोर भयो गैयन के पाछे मधुबन माहिं पठायो।
चार पहर बंसीबट भटक्यो साँझ परे घर आयो।
मैं बालक बँहियन को छोटो छींको केहि विधि पायो।
ग्वाल बाल सब बैर परे है, बरबस मुख लपटायो।
तू जननी मन की अति भोरी इनके कहे पतियायो।
जिय तेरे कछु भेद उपज है, जान परायो जायो।

यह लै अपनी लकुट कमरिया बहुतहि नाच नचायो।
सूरदास तब बिहँसि जसोदा लै उर कंठ लगायो।

बाल्य काल का यह चित्र दुर्लभ है और मातृ-स्नेह की यह ध्वनि कौन भूल सकता है। श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर माता यशोदा की क्या अवस्था थी—

मेरे कुँवर कान्ह बिनु सब कछु वैसहि धर्यो रहै।
को उठि प्रात होत लै माखन को कर नेत गहै।
सूने भवन जसोदा सुत के गुन गुनि सूल सहै।
दिन उठि घेरत ही घर ग्वालिनि उरहन कोउ न कहै।
जा ब्रज में आनन्द होतो मुनि मनसा हू न गहै।
सूरदास स्वामी बिनु गोकुल कौड़ी हू न लहै।

प्रेम की क्या कोई एक अवस्था है? सूर ने प्रेम की सभी अवस्थाओं में भगवान का दर्शन किया है। [illegible]

और धर्म की मर्यादा स्थापित करता है। यदि समाज न रहे, धर्म न रहे तो मनुष्यों का यह संसार भी नष्ट होजाय। जिस जाति में समाजिक मर्यादा नष्ट होने लगी और धर्म का लोप होने लगा उसका विनाश-काल समीप आगया है। धर्म और समाज का सदैव विकास होता रहता है। परन्तु जहां मनुष्य एक व्यक्ति है वहां त्याग ही उसके जीवन का परम आदर्श है। वहां मनुष्य अपने सुखों की वृद्धि नहीं चाहता किन्तु दुःखों को ही सहर्ष स्वीकार कर लेता है। संकटों और विपत्तियों का आह्वान करता है और अपने को ही दूसरे में लीन कर देता है। यह तल्लीनता प्रेम-साधना का फल है। प्रेम का रूप जितना ही विशुद्ध होगा उतनी ही उसमें तल्लीनता होगी। गोपियों के प्रेम में यही तल्लीनता है। उनकी समस्त लालसाओं का केन्द्र श्रीकृष्ण हैं और उनकी समस्त इन्द्रिय-वृत्तियों का लक्ष्य श्रीकृष्ण है। भक्त-कवियों के वर्णन में भी यही तल्लीनता है। साक्षात् सच्चिदानन्द-स्वरूप भगवान श्रीकृष्ण आद्या-शक्ति रूपिणी गोपियों के साथ विहार कर रहे हैं, इसमें उन्हें सन्देह हो क्या होगा। समाज की कृत्रिम मर्यादा उस अकृत्रिम प्रेम के आगे कहां ठहर सकती है? धर्म की क्षुद्र सीमा उस असीम और अनन्त शक्ति की लीलाओं को क्या घेर सकती है। इसी से व्रज भाषा के सभी कवियों ने पवित्र शृङ्गार-रस की अवतारणा में न तो सदाचार की सीमा का विचार किया और न धर्म की मर्यादा का। वर्णन लौकिक है पर विषय तो अलौकिक है। दृष्टि सीमा बद्ध है पर कल्पना के लिए तो कोई सीमा नहीं है। ज्ञान की उपमा है पर प्रेम की तो कोई उपमा नहीं है। शरीर के लिए बन्धन है, पर हृदय तो बन्धन-हीन है। तभी तो

हम चातक चकोर श्याम घन बदन सुधा निधि प्यारे।
मधुवन बसत आस दरसन की जोइ नैन मग हारे।
सूरज श्याम करी पिय ऐसी मृतकहु ते पुनि मारे।

उद्धव का संदेश क्या था प्रेम के प्रति मानो ज्ञान का उपदेश था और गोपियों का उत्तर क्या था मानो ज्ञान पर प्रेम की विजय थी।

कहां लौ कीजे बहुत बड़ाई।
अति अगाध मन अगम अगोचर मनसों तहा न जाई।
जा के रूप न रेख बरन वपु नाहिन सखा सहाई।
ता निर्गुण सो नेह निरन्तर क्यों ति बहै री माई।
जल बिन तरँग, भीति बिन लेखन बिन चेतहि चतुराई।
या ब्रज में कछु नहीं चाह है ऊधो आनि सुनाई।
मन चुभि रह्यो माधुरी मूरति अग अंग उर छाई।
सुन्दर श्याम कमल दल लोचन सूरदास सुखदाई।

उद्धव के ज्ञानोपदेश को सुनकर गोपियो ने यही कहा–

प्रेम प्रेम तें होय प्रेम, ते यह हे जीये।
प्रेम बधो समार, प्रेम परमराथ लहिये।
एकै निश्चय प्रेम को, जीवन मुक्ति रसाल।
साचो निश्चय प्रेम को, जिहि रे मिलै गोपाल।
ऊधो कहि सतभाय, न्याय तुम्हरे मुख साचे।
योग प्रेम रस कथा, कहो कचन का काचे।
जा के पर हे हूजिए, गहिये सोई नेम।
मधुप हमारी सों कहो, योग भलो या प्रेम।

इसी से उन्होने कहा

हमको हरि की कथा सुनाऊ।
ये आपनी ज्ञान-गाथा अलि मधुरा ही लै जाउ।

प्रति समय माता जसुमति अरु नन्द देख सुख पावत ।
माखन रोटी दही सजायो अति हित साथ खवावत ।
गोपी ग्वाल बाल संग खेलत सब दिन हंसत खिलात ।
सूर स्याम धनि धनि ब्रजवासी जिनसों हसत ब्रजनाथ ।

रुक्मिणि से उन्होंने कहा—

रुकमिनि मोंहि ब्रज बिसरत नाहीं ।
वा क्रीड़ा खेलत यमुना तट बिमल कदम की छांहीं ।
सकल सखा अरु नन्द यशोदा वे चित तें न टराहीं ।
सुत हित जानि नन्दप्रति पाले बिछुरत बिपति सहाहीं ।
यद्यपि सुख निधान द्वारावति तउ मन कहुँन रहाहीं ।
सूरदास प्रभु कुंज बिहारी सुमिरि सुमिरि पछताहीं ।

ऐसे भगवान की सेवा में जो न लग सका उसका जन्म व्यर्थ ही हुआ—

जन्म सिरानो ऐसे ऐसे ।
कै घरघर भरमत यदुपति तिन कै सोवत कै वैसे ।
कै कहुँ खान पान रमनादिक कैकहुँ बाद अनैसे ।
कै कहुँ रँक कहू ईश्वरता नट बाजीगर जैसे ।
चेत्यो नहीं गयो हरि अवसर मीन बिना जल जैसे ।
यह गति भई सूर की ऐसी श्याम मिलैं धौं कैसे ।

सूरदास के वर्णन की विशेषता यह है कि वे एक दर्शक की भांति, एक भक्त अनुरक्त, सखा की भांति, श्रीकृष्णचन्द्र जी की लीलाओं का वर्णन करते हैं। उनके वर्णन में प्रेम है, उल्लास है, भक्ति है। परन्तु उनके वर्णन में कहीं भी वियोग की व्याकुलता नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि मानो उन्होंने श्रीकृष्ण जी का सांनिध्य प्राप्त कर लिया था। कदाचित् यही

जब से मोहि नंद-नँदन दृष्टि पड्यो माई।
तब से परलोक-लोक कछू न सोहाई।
मोहन की चन्द्रकला सीस मुकुट सोहै।
केसर को तिलक भाल तीन लोक मोहै।
कुंडल की अलक झलक कपोलन पर छाई।
मनो मीन सरवर तजि मकर मिलन आई।
कुटिल भृकुटि, तिलक भाल, चितवन में टोना।
खंजन अरु मधुप मीन भूले मृग छौना।
सुन्दर अति नासिका सुग्रीव तीन रेखा।
नटवर प्रभु भेष धरे रूप अति विशेषा।
अधर बिंब अरुन नैन मधुर मंद हाँसी।
दसन दमक दाड़िम द्युति चमके चपलासी।
छुद्र घंट किंकिनी, अनूप धुनि सोहाई।
गिरिधर के अंग अंग मीरा बलि जाई।

हृदय में प्रियतम की छवि अङ्कित होगई। पर अभी तो सम्बन्ध उनसे केवल नाम का है। उनसे मिलन कब होगा, यह कौन जाने। इसका उपाय, इसकी युक्ति कौन बतावेगा। प्रिय के परम धाम तक पहुँचने के लिए कितने संकट, कितनी विपत्तियों का सामना करना पड़ा। एक तो विषम पथ ही है। परन्तु अभी तो बन्धन से ही मुक्ति नहीं हुई। जाना भी चाहें तो जाने का उपाय नहीं। ऐसी असहाय, निरुपाय अवस्था में सद्गुरु ने ऐसी कृपा की कि भगवान् घर पर ही आकर मुझसे मिल गये। ये दो बातें मीरा के दो प्रसिद्ध पदों में हैं। एक में विरह की व्याकुलता है और दूसरे में मिलन का आभास है।

नातो नाम को मोसे तनक न तोड़्यो जाय।
पाना ज्यों पीली पड़ी रे, लोग कहें पिंड-रोग।

कोस कोस पर पहरा बैठ्या, पैंड पैंड बटमार।
हे विधना कैसी, रचि दीन्ही दूर बस्यो गाम हमार।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर सतगुर दई बताय।
जुगन जुगन तें बिछुड़ी मीरा घर में लीन्हा आय।

सूरदास और मीरा की भक्ति में प्रेम का प्राबल्य है और गोस्वामी जी की भक्ति में सेवा का भाव है। विद्वानों की राय मे राजापुर नामक ग्राम में, संवत् १५८६ में गोस्वामी तुलसीदास जी का जन्म हुआ था। उनके पिता का नाम आत्माराम दुबे था और माता का हुलसी। उनके गुरु का नाम नरहरिदास बतलाया जाता है। राम चरित मानस मे अपने गुरु की वन्दना में उन्होंने कहा है—

बन्दौ गुरु पद कंज कृपा सिन्धु नर रूप हरि।
महा मोह तम पुंज जासु वचन रविकर निकर।
उनकी मृत्यु के विषय मे यह दोहा प्रसिद्ध है।
संवत सोरह सौ असी असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी तुलसी तज्यो शरीर।

अपने जीवन काल में ही गोस्वामी जी ने असाधारण ख्याति प्राप्त कर ली थी। नाभादास जी ने उनकी प्रशंसा मे लिखा है--

त्रेता काव्य निबन्ध करी शत कोटि रमायन।
इक अक्षर उचरे ब्रह्म हत्यादि परायन।
अब भक्तन सुख देन बहुरि वपुधरि लीला विस्तारी।
राम चरण रस मत्त रहत अह निशि व्रतधारी।
संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लयो।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित बाल्मीकि तुलसी भयो॥

अति ही अपाने उपसानो नहि बूझै लोग
साह ही को गोत गोत होत है गुलाम को।
साधु के असाधु कै भलो कै पोच सोच कहत
का काहू के द्वार परो जो हौं सो हौं राम को।

अर्थात् न तो मेरी जाति-पांति है और न मैं किसी की जाति-पांति चाहता हूं। किसी से मेरा कुछ प्रयोजन नहीं है। मेरा लोक-परलोक भगवान् के हाथ है। उन्हीं का मुझे भरोसा है। मेरा गोत्र क्या पूछते हो। जो स्वामी का गोत्र होता है वही सेवक का होता है। अच्छा हूं या बुरा, मैं भगवान् का हूं। मैं तो किसी के द्वार पर नहीं जाता।

व्याधि से पीड़ित होकर गोस्वामी ने कैसी प्रार्थना की है—

चेरो राम राय को सुजस सुनि तेरो हर,
पाइ तर आई रह्यो सुर सरि तीर हौं।
बाम देव राम को सुभाव सील जानि जिय
नातो नेह जानियत रघुबीर भीर हौं।
अधि भूत बेदन विषम होत भूत नाथ
तुलसी बिकल पाहि पचत कुपीर हौं।
मारिए तो अनायास कासी बास खास फल
ज्याइए तो कृपा करि निरुज सरीर हौं॥ १॥
जीने की न लालसा दयालु महादेव मोहि
मालुम है तोहि मरिबेई को रहतु हौं।
काम रिपु राम के गुलामनि को कामतरु
अवलम्ब जगदम्ब सहित चहतु हौं।
रोग भयो भूतसो कुसूत भयो तुलसी को
भूत नाथ पाहि पद पंकज गहतु हौं।

क्या कोई अपनी बात छिपा सकता है। विनय-पत्रिका की श्रेष्ठता इसी पर है।

राम के गुलाम नाम रामबोला राख्यो राम
काम यहै नाम द्वै हौं कबहू कहत हौं।
रोटी लूगा नीके राखै आगे हू की बेद भाखै
भलो ह्वै है तेरो ताते आनन्द लहत हौं।
बाँध्यो हौं करम जड़ गरब निगड़ गूढ़
सुनत दुसह हौं तो सासति सहत हौं।
आरत अनथ नाथ कौशल कृपाल पाल
लीन्हों छीनि दीन देख्यो दुरित दहत हौं।
बूझ्यो ज्यौंही कह्यो मैं हूँ चेरो ह्वै हौं रावरो जू
मेरो कोऊ कहु नाहि चरण गहत हौं।
मींजो गुरु पीठ अपनाइ गहि बाँह बोलि
सेवक सुखद सदा विरद बहत हौं।
लोक कहैं पोचु सो न सोच न सकोच मेरे
ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं।
तुलसी अकाज काज राम ही के रीझे खीझे
प्रीति की प्रतीति मन मुदित रहत हौं।

अर्थात् मैं राम का गुलाम हूँ। मेरा नाम रामबोला है। कभी कभी राम नाम कह लेना यही मेरा काम है। मुझे न इस लोक की चिन्ता है न परलोक की। यहाँ तो रोटी और कपड़ा पा जाने से ही मैं समझता हूँ कि मैं अच्छी तरह हूँ। मुझे विश्वास है कि आगे मेरी भलाई ही होगी। अभी तक मुझे जड़ कर्म ने अहङ्कार की असह्य बेड़ी से बांध रक्खा है। वह तो अनाथों के नाथ की कृपा से नष्ट हो गई। गुरु ने पूछा तू कौन है तब मैंने कहा— मैं तो

नील जलद वारिद तमाल मणि इन्द्र तनु ते द्युति पाई।
मृदुल चरण शुभ चिह्न पदज नख अति अद्भुत उपमाई।
अरुण नील पाथोज प्रसव जनु मणि युत दल समुदाई।
जात रूप मणि जटित मनोहर नूपुर जन सुखदाई।
जनु हर उर हरि विविध रूप धरि रहे वर भवन बनाई।
कटि तट रटति चारु किंकिणी रव अनुपम वरणि न जाई।
हेम जलज कल कलित मध्य जनु मधुकर मुखर सोहाई।
उर विशाल भृगु चरण चारु अति सूचत कोमलताई।
कंकण चारु विविध भूषण विधि रचि निज कर मन लाई।
गज मणि माल बीच भ्राजत कहि जाति न पदिक निकाई।
जनु उडु गण मंडल वारिद पर नवग्रह रची अथाई।
भुजग भोग भुज दण्ड कंज दर चक्र गदा बनि आई।
शोभा सींव ग्रीव चिबुकाधर वदन अमित छवि छाई।
कुलिश कुन्द कुड्मल दामिनि द्युति दशनन देख लजाई।
नासा नयन कपोल ललित श्रुति कुण्डल भ्रू मोहि भाई।
कुंचित कच शिर मुकुट भाल पर तिलक कहौं समुझाई।
अल्प तडित युग रेख इन्दु महँ रहि तजि चंचलताई।
निर्मल पीत दुकूल अनूपम उपमा हिय न समाई।
बहु मणि युत गिरि नील शिखर पर कनक वसन रुचिराई।
दक्ष भाग अनुराग सहित इन्दिरा अधिक ललिताई।
हेम लता जनु तरु तमाल ढिग नील निचोल ओढ़ाई।
शत शारदा शेष श्रुति मिलि करि शोभा कहि न सिराई।
तुलसीदास मति मन्द द्वन्द्व रत कहै कौन विधि गाई।

इसमें तुलसीदास जी ने नख से शिखा तक भगवान के रूप का वर्णन किया है। तुलसीदास और सूरदास जी के रूप वर्णन में यही विशेषता है कि वे सौन्दर्य की एक मू

अङ्कित करते हैं परन्तु उसे उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं से गुम्फित करडालते हैं। ऐसा जानपड़ता है कि रूप की वह झलक नेत्रों के सामने आते ही तुरन्त भाव-जगत से कल्पना-जगत में विलीन होजाती है। यह रूप इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है। यह आनन्द की वह छाया सभी मूर्ति है जो केवल साधन से, अनुभूति से ही, उपलभ्य है। वह कल्पना के भी अतीत है। भगवान के श्यामशरीर से ही नीले कमल, मेघ, तमाल वृक्ष और नीलमणि ने द्युति प्राप्त की है। उनके उंगलियों के साथ नखों की ऐसी शोभा है कि मानो लाल, भी एक मधु के नारि जटित पत्ते निकले हों। सुवर्ण के कमल की कलियों में जब भौंरों का सुखद शब्द हो तब उनकी कटि की किंकिणियों के रव से उनकी तुलना की जासकती है। उनके कंकण आदि आभूषणों के बनाने वाले स्वयं ब्रह्मा हैं। उन्होंने जो मोतियों की माला पहनी है उस में बीच बीच में रत्न हैं।

वे ऐसे हैं कि मानो मेघ के ऊपर तारागणों के बीच नवग्रहों के बैठने की जगह बनाई है। दांतों को देखकर हीरे, कुन्द-कली और बिजली लज्जित हो जाती हैं उनके कुंचित केश हैं, सर पर मुकुट है, भाल पर तिलक है। तिलक ऐसा है मानो चन्द्रमा में दामिनी की दो रेखायें निश्चल हो गई हैं। उनके साथ लक्ष्मी बैठी हैं तो ऐसा मालूम होता है कि मानो तमाल के वृक्ष के पास सोने की लता नील वस्त्र ओढ़कर बैठी है। सचमुच यह शोभा अवर्णनीय है, इन्द्रियों से अनधिगम्य है।

मेरो भलो कियो राम आपनी भलाई।
हों तो साँइ द्रोही पै सेवक हित आई।
राम सों बड़ो है कौन मोसों कौन छोटो,

सुनु मन मूढ़ सिखावन मेरो।
हरिपद विमुख लह्यो न काहु सुख शठ यह समुझ सवेरो।
बिछुरे शशि रवि मन नयननि तें पावत दुख बहुतेरो।
भ्रमत श्रमित निशि दिवस गगन महँ तहं रिपु राहु बड़ेरो।
यद्यपि अति पुनीत सुर सरिता तिहुं पुर सुयश घनेरो।
तजे चरण अजहू न मिटत नित बहिबो ताहू केरो।
छुटै न विपति भजे बिनु रघुपति श्रुति सन्देह निबेरो।
तुलसिदास सब आस छाड़ि करि होहु राम कर चेरो।

अरे मन जो भगवान् के चरणों से विमुख हुआ उसे भी फिर कभी सुख ही नहीं मिला। देख, सूर्य और चन्द्रमा उनसे पृथक् होते ही आकाश में चक्कर लगा रहे हैं और राहु भी उनके पीछे पड़ा हुआ है। भगवान् के चरणों को छोड़ देने के कारण गंगा जी भी अब बहती ही जा रही हैं। हैं वे पुनीत और त्रिभुवन मे उनका यश भी है पर उन्हे तो शान्ति नही हैं। इसले सब आशाओं को छोड राम का दास हो।

ऐसी मूढता या मन की।
परि हरि राम भक्ति सुर सरिता आस करत ओसन की।
धूम समूह निरखि चातक ज्यों तृषित जानि मति घन की।
नहिं तहँ शीतलता तवारि पुनि हानि होत लोचन की।
ज्यों गच काच विलोकि सेन जड छाह आपने तन की।
टूटत अति आतुर अहार बश क्षति विसारि आनन की।
कह लौं कहौं कुचाल कृपा निधि जानत हौं गति जन की।
तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख करहु काज निज पन की।

मन भी कैसा मूढ है, राम-भक्ति रूपी गंगा को छोड़कर ओसो की ही चाह करता है। चातक को कहीं धुंए से जल

जिन बांधे सुर असुर नाग नर प्रबल कर्म की डोरी।
सोइ अबिछिन्न ब्रह्म जसुमति हठि बाँध्यो सकत न छोरी।
जाकी माया बश बिरंचि शिव नाचत पार न पायो।
करतल ताल बजाइ ग्वाल जुवतिन सोइ नाच नचायो।
विश्वम्भर श्रीपति त्रिभुवन पति वेद विदित यह लीख।
बलि सों कछु न चली प्रभुता बरु ह्वै द्विज माँगी भीख।
जाको नाम लिये छूटत भव जन्म मरण दुख भार।
अम्बरीष हित लागि कृपा निधि सोइ जनम्यो दश बार।
योग विराग ध्यान जप तप करि जे खोजत मुनि ज्ञानी।
बानर भालु चपल पशु पामर नाथ तहाँ रति मानी।
लोकप यम काल पवन रवि शशि सब आज्ञाकारी।
तुलसिदास प्रभु उग्रसेन के द्वार बेंत कर धारी।

भगवान तो अपने दास पर ऐसी ही प्रीति करते हैं। वे अपनी महिमा भी भूल जाते हैं और भक्त के वश हो जाते हैं। यही उनकी रीति है। जिन्होंने देवों, असुरों, नागों और मनुष्यों को कर्म के प्रबल बन्धन से बांध रक्खा है वे स्वयं उस डोरी को न खोल सके जिससे यशोदा ने उन्हें बाँधा था। जिनकी माया के वशीभूत हो ब्रह्मा और शंकर जी भी नाचते हैं उन्हें ग्वालियों ने नचा डाला। बलि से उन्हें भीख मांगनी पड़ी। अम्बरीष के लिए जन्म लेना पड़ा। नीच पशुओं से मित्रता करनी पड़ी। और उग्रसेन का द्वारपाल होना पड़ा।

आजु कहा तजि परत पुकारे।
जो पै नाम पतित पावन जग केहि अति दीन बिचारे।
दीन देव बताइ बिरद जिन हरि हठि अधम उधारे।
[illegible]

देव दनुज मुनि नाग मनुज सब काम विवश विचारे।
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु कहा अपन पौ हारे।

अब आपके चरणों को छोड़कर कहां जाऊं। और किसका नाम पतित-पावन है, और कौन दीनो पर दया करने वाला है। किस देव ने पक्षी, मृग, व्याध, पत्थर, वृक्ष, यवन आदि का उद्धार किया, चुन चुन कर पापियों को तारा। सभी तो माया के वशीभूत हैं। तब मै भला उनका आश्रय क्यो लूं।

अबलौं नशानी अब न नसैहौं।
राम कृपा अब निशा सिरानी जागे फिर न उसैहौं।
पायो नाम चारु चिन्तामणि उर करते न खसैहौं।
श्याम रूप शुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहि रसैहौं।
परवस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन निज वश है न हसैहौं।
मन मधु कर पन करि तुलसी रघुपति पद कमल बसैहौं।

इतने दिनो तक जो कुछ होना था हो चुका, मैं बहुत कुछ खो चुका। अब तो मै अपने को नष्ट नहीं करूंगा। रामचन्द्र की कृपा से अब संसार रूपी निशाकाल व्यतीत हो गया। अब तो मै जाग चुका। अब मैं फिर मोह-निद्रा मे पड़ने का नहीं। अब मुझे नाम रूपी चिन्ता-मणि की प्राप्ति हो गई है। अब उसे खोऊंगा नही। अभी तक मुझे मन का दास समझकर इन्द्रियां हंस रही थीं अब मैं उपहास का पात्र नहीं बनूंगा। अब मै स्वतन्त्र हूं, मन की पराधीनता से छूट गया हूं। अब तो मै भगवान् के श्याम रूप रूपी कसौटी पर अपने चित्त को कसता रहूंगा, जिससे उसकी विशुद्धि की परीक्षा होती रहे। अब तो मेरा मन भौंरे की भांति भगवान् के चरण-कमलों में ही निवास करेगा।

ऐसा कौन उदार है जो विना सेवा के ही दीनों प
कृपा करे। जो अवस्था वड़े वड़े मुनियों को दुर्लभ है उ
गीध और शवरी को देते हुए प्रभु को संकोच हुआ। जि
सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए रावण को अपने दसों सिर दे
पडे वही सम्पत्ति राम ने वडे संकोच से विभीषण को दी
अरे मन, अगर सुख चाहते हो तो राम को भज। वही सब
इच्छाओं की पूर्ति कर सकते हैं।

कव हुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा ते सत स्वभाउ गहौंगो।
यथा लाभ सन्तोष सदा काहूसों कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरन्तर मन क्रम वचन नेम निवहौंगो।
परुष वचन अति दुसत श्रवण सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
विगत मान सम सीतल मन पर गुण अवगुण न कहौंगो।
परिहरि देह जनित चिन्ता दुख सुख सम बुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरि भक्ति कहौंगो।

अव कव तक इसी ढग मे रहूगा। अव तो मैं भी भगवान की कृपा से सज्जनों का स्वभाव स्वीकार करूगा। जो मिलेगा उसी से सन्तोष करूगा। किसी से कुछ नहीं चाहूगा। दूसरे के उपकार मे ही लगूंगा। कठोर वचन सुन लूगा और क्रोध नहीं करूगा। मान अपमान के भाव से पृथक् होकर हृदय मे अव सम भाव रखूगा। देह की चिन्ता छोड दूगा। इसी पथ पर रहकर भगवान् की अचल भक्ति पाऊंगा।

राम चरित मानस हिन्दी साहित्य का सवसे श्रेष्ठ ग्रन्थ है। उसमे कविता की दो धारायें स्पष्ट दिखाई देती हैं, एक तो ज्ञान की धारा है और दूसरी है सौन्दर्य की धारा।

पहली का लक्ष्य है। वह मनुष्य जीवन के अन्तस्साध की परीक्षा करती है, उसके दोषों उसकी निस्सारता, उसकी दुर्बलता और उसके मिथ्या अंश को प्रकट करती है। इसीलिए राम चरित मानस केवल काव्य नहीं, नीति का भी ग्रन्थ है। उसमें ज्ञान और प्रेम, सत्य और सौन्दर्य का विलक्षण सम्मिलन हुआ है। तुलसीदास जी ने उन भावों का वर्णन किया है जो मनुष्य-मात्र के जीवन में पाये जाते हैं। परन्तु उन भावों को इन्होंने आदर्श रूप में ही व्यक्त किया है। [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि ।
कहत लखन सन राम हृदय गुनि ।
मानहु मदन दुंदुभी दीन्ही ।
मनसा विश्व विजय कहँ कीन्ही ।
अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा ।
सिय मुख ससि भए नयन चकोरा ।
भये विलोचन चारु अचंचल ।
मनहुँ सकुचि निमि तजे दृगंचल ।

तब उन्होंने कहा—

रघु बसिन्ह कर सहज सुभाऊ ।
मन कुपथ पगु धरैं न काऊ ।
मोहि अति सय प्रतीति मन केरी ।
जेहि सपनेहु पर नारि न हेरी ।
जिन्ह कै लहहिन रिपु रन पीठी ।
नहि लावहि पर तिय मनु डीठी ।

अर्थात् यह मेरा मानसिक क्षोभ ही इस बात की सूचना देता है कि सीता जी ही मेरी धर्म पत्नी होगी। नहीं तो यह प्रेम-भाव हो ही नहीं सकता।

अब सीता जी की अवस्था देखिए—

चितवति चकित चहू दिशि सीता ।
कहँ गये नृप किशोर मनु चिन्ता ।
जहँ विलोकि मृग सावक नयनी ।
जनु तहँ बरिस कमल सित श्रेनी ।
लता ओट तब सखिन लखाए ।
श्यामल गौर किशोर सुहाए ।
देखि रूप लोचन ललचाने ।
हरषे जनु निज निधि पहचाने ।

देवि पूजि पद कमल तुम्हारे।
सुर नर मुनि सब होहि सुखारे।
मोर मनोरथ जानहु नीके।
बसहु सदा उर पुर सबही के।
कीन्हेउ प्रगट न कारन तेही।
अस कहि चरन गहे बैदेही।

सीता जी का रूप वर्णन करते समय तुलसीदास जी ने यह सदैव ध्यान में रक्खा है कि वे जगदम्बा का रूप-वर्णन कर रहे हैं। यह रूप इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है, वह कल्पना के भी अतीत है। वह तो केवल प्रेम, भक्ति और साधना से ही लभ्य है।

सिय सोभा नहि जाय बखानी।
जगदम्बिका रूप गुण खानी।
उपमा सकल मोहि लघु लागी।
प्राकृत नारि अंग अनुरागी।
सिय बरनिअ तेइ उपमा देई।
कुकवि कहाइ अजस को लेई।
जौ पटतरिय तीय सम सीया।
जग अस जुबति कहाँ कमनीया।
गिरा मुखर तनु अरध भवानी।
रति अति दुखित अतनु पति जानी।
बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही।
कहिय रमा सम किमि बैदेही।
जौं छवि-सुधा पयोनिधि होई।
परम रूपमय कच्छप सोई।

देवि पूजि पद कमल तुम्हारे।
सुर नर मुनि सब होहिं सुखारे।
मोर मनोरथ जानहु नीके।
बसहु सदा उर पुर सबही के।
कीन्हेउ प्रगट न कारन तेही।
असि कहि चरन गहे बैदेही।

सीता जी का रूप वर्णन करते समय तुलसीदास जी ने यह सदैव ध्यान में रक्खा है कि वे जगदम्बा का रूप-वर्णन कर रहे हैं। यह रूप इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है, वह कल्पना के भी अतीत है। वह तो केवल प्रेम, भक्ति और साधना से ही लभ्य है।

सिय सोभा नहिं जाय बखानी।
जगदम्बिका रूप गुन खानी।
उपमा सकल मोहि लघु लागी।
प्राकृत नारि अंग अनुरागी।
सिय बरनिअ तेइ उपमा देई।
कुकवि कहाइ अजसु को लेई।
जौं पटतरिय तीय सम सीया।
[illegible]

बोले राम सुअवसर जानी।
सील सनेह सकुच मय बानी।
राउ अवधपुर चहत सिधाए।
बिदा होन हम इहाँ पठाए।
मातु मुदित मन आयसु देहू।
बालक जानि करब नित नेहू।
सुनत बचन बिलखेउ रनिवासू।
बोलि न सकहिं प्रेम बस सासू।
हृदय लगाय कुअँरि सब लीन्ही।
पतिन्ह सौंपि बिनती अति कीन्ही।

करि बिनय सिय रामहि समरपी जोरि कर पुनि पुनि कहै।
बलि जाउँ तात सुजान तुम्ह कहँ बिदित गति सब की अहै।
परिवार पुरजन मोहि राजहि प्रान प्रिय सिय जानिबी।
तुलसी सुसील सनेह लखि निज किंकरी करि मानिबी।

फिर अयोध्या में आनन्द का समुद्र उमड़ आया। पर कुछ ही समय के बाद श्री रामचन्द्र जी को पितृ-वचन की रक्षा करने के लिए वन-गमन करना पड़ा। इन्होंने सीता जी को साथ जाने से रोका। तब सीता जी ने—कहा

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

बन दुख नाथ कहे बहुतेरे ।
भय बिसाय परिताप घनेरे ।
प्रभु वियोग लव लेस समाना ।
सब मिलि होंहि न कृपा निधाना ।
अस जिय जानि सुजान सिरोमनि ।
लेइअ सग मोहि छाँडिअ जनि ।
विनती बहुत करौं का स्वामी ।
करुणामय उर अन्तर यामी ।

राखिय अवध जो अवधि लगि रहत जानि अहि प्रान ।
दीन बन्धु सुन्दर सुखद सील सनेह निधान ।

मोहि मग चलत न होइहि हारी ।
छिन छिन चरन सरोज निहारी ।
सबहि भाँति पिय सेवा करिहौं ।
मारग जनित सकल स्रम हरिहौं ।
पाय पखारि बठि तरु छाँहीं ।
करिहौं बाउ मुदित मन माहीं ।
स्रम कन सहित स्याम तनु देखे ।
कहँ दुख समउ प्रान पति पेखे ।
सम महि तृन तरु पल्लव डासी ।
पाय पलोटिहि सब निसि दासी ।
बार बार मृदु मूरति जोही ।
लागिहि तात बयारि न मोही ।
को प्रभु सँग मोहि चितवनि हारा ।
सिंह बधुहि जिमि ससक सियारा ।

अन्त में सीता जी का साथ लेना ही पड़ा और ण का भी । सुमंत्र कुछ दूर उनको पहुँचाने आये थे—

एक कलस भरि आनहिं पानी।
अँचइय नाथ कहहिं मृदु बानी।
सुनि प्रिय वचन प्रीति अति देखी।
राम कृपालु सुसील विसेखी।
जानो श्रमित सीय मन माहीं।
घरिक विलंबु कीन्ह बट छाहीं।

उस समय—

वरनि न जाइ मनोहर जोरी।
सोभा बहुत थोरि मति मोरी।
राम लखन सिय सुन्दरताई।
सब चितवहिं चित मन मति लाई।
थके नारि नर प्रेम पियासे।
मनहुँ मृगी मृग देखि दियासे।
सीय समीप ग्राम तिय जाहीं।
पूँछत अति सनेह सकुचाहीं।
बार बार सब लागहिं पाएँ।
कहहिं बचन मृदु सरल सुभाएँ।
राजकुमारि विनय हम करहीं।
तिय सुभाव कछु पूँछत डरहीं।
स्वामिनि अविनय छमवि हमारी।
विलगु न मानव जानि गवाँरी।
राजकुँअर दोउ सहज सलोने।
इन्हते लहि दुति मरकत सोने।

स्यामल गौर किसोर वर सुन्दर सुखमा ऐन।
सरद सर्वरी नाथ मुख सरद सरोरुह नैन॥

जहँ तहँ पियहिं विविध मृग नीरा ।
जनु उदार गृह जाचक भीरा ।

पुरइन सघन ओट जल बेगि न पाइअ मर्म ।
माया छन्न न देखिअ जैसे निर्गुन ब्रह्म ॥

सुखी मीन सब एक रस अति अगाध जल माहिं ।
जथा धर्म सीलन्ह के दिन सुख संजुत जाहिं ॥

विकसे सरसिज नाना रंगा ।
मधुर मुखर गुंजत बहु भृङ्गा ।
बोलत जल कुक्कुट कल हंसा ।
प्रभु विलोकि जनु करत प्रसंसा ।
चक्र वाक वक खग समुदाई ।
देखत बनै बरनि नहिं जाई ।
सुन्दर खग गन गिरा सुहाई ।
जात पथिक जनु लेत बोलाई ।
ताल समीप मुनिन्ह गृह छाए ।
चहुँ दिसि कानन विटप सुहाए ।
चंपक बकुल कदंब तमाला ।
पाटल पनस पलास रसाला ।
नव पल्लव कुसुमित तरु नाना ।
चंचरीक पटली कर गाना ।
सीतल मंद सुगंध सुभाऊ ।
सतत बहै मनोहर बाऊ ।
कुहू कुहू कोकिल धुनि करहीं ।
सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं ।

फल भर नम्र विटप सब रहे भूमि निअराइ ।
पर उपकारी पुरुष जिमि नवहिं सुसम्पति पाइ ।

कबहुं दिवस महँ निबिड़ तम कबहुँक प्रगट पतंग।
बिनसे उपजै ज्ञान जिमि पाइ कुसंग सुसंग।

इसी प्रकार वियोगिनी सीता जी के मनो भावों को हनूमान जी ने कितने अच्छे ढंग से प्रकट किया है—

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हारा कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहि प्रान केहि बाट।

चलत मोहि चूड़ामनि दीन्ही।
रघुपति हृदय लाइ सोइ लीन्ही।
नाथ जुगल लोचन भरि बारी।
बचन कहे कछु जनक कुमारी।
अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना।
दीन बन्धु प्रनतारति हरना।
मन क्रम बचन चरन अनुरागी।
केहि अपराध नाथ हौं त्यागी।
अवगुन एक मोर मैं माना।
बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना।
नाथ सो नयनन्हि कर अपराधा।
निसरत प्रान करहिं हठि बाधा।
विरह अगिनी तनु तूल समीरा।
स्वास जरै छन माँह सरीरा।
नयन स्रवहिं जल निज हित लागी।
जरै न पाव देह विरहागी।
सीता कै अति विपति बिसाला।
बिनहिं कहे भलि दीन दयाला।

निमिष निमिष करुनानिधि जाहि कलप सम बीति।
बेगि चलिअ प्रभु अनिय भुजबल खलदल जीति।

तुलसीदास जी ने सभी रसों पर भक्ति-रस का सिञ्चन कर दिया है। शृङ्गार रस में भक्ति का सम्मिश्रण होने से एक अपूर्व कोमलता आगई है, करुण-रस में गम्भीरता आ गई और वीर, रौद्र और वीभत्स रस में शान्ति की धारा बह गई है। युद्ध-स्थल में भगवान् का रूप लोकाभिराम है—

देव वचन सुनि प्रभु मुसकाना।
उठि रघुवीर सुधारे बाना।
जटाजूट दृढ़ बाँधे माथे।
सोहहिं सुमन बीच बिच गाँथे।
अरुन नयन बारिद तनु स्यामा।
अखिल लोक लोचन अभिरामा।
कटि तट परिकर कसउ निषंगा।
कर को दंड कठिन सारंगा।

सारंग कर सुन्दर निषंग सिलीमुखाकर कटि कस्यौ।
भुज दंड पीन मनोह रायत उर धरा सुर पद लस्यौ।
कह दास तुलसी जबहिं प्रभु सर चाप कर फेरन लगे।
ब्रह्मांड दिग्गज कमठ अहि महि सिंधु भूधर डगमगे।

युद्ध क्या है मानो वर्षाकाल में प्रकृति का विलास है—

देखि चले सनमुख कपि भट्टा।
प्रलय काल के जनु घन घटा।
बहु कृपान तरवारि चमक्कहिं।
जनु दस दिसि दामिनी दमक्कहिं।
गजरथ तुरग चिकार कठोरा।
गर्जहिं मनहु बलाहक घोरा।

आई हैं। सभी भक्त-कवियों के सम्बन्ध में एक ही प्रकार की कथा प्रचलित है। सभी के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वे पहले किसी स्त्री के प्रेम में पड़कर अपनी बुद्धि खो चुके थे। उसके बाद किसी के उपदेश से या अन्य किसी घटना विशेष से उनके हृदय में भगवद्भक्ति का सहसा प्रादुर्भाव हुआ और वे भगवान् के अनन्य भक्त हो गये। इन कथाओं की घटनायें भले ही सच न हों, पर उनमें प्रेम और भक्ति का यथार्थ रहस्य छिपा है। जब धर्म का चरम लक्ष्य ईश्वर से मिलन होता है तब साधना की गति रस की ओर होती है। हृदय में पहले प्रेम-रस का लक्ष्य सम्भोग की ओर होता है. उसकी ओर चित्त को प्रेरित करने से दुर्बलता और विकार उत्पन्न होते हैं। मनुष्यत्व दुर्गति को प्राप्त होता है। जब उसकी निस्सारता हृदय में अङ्कित हो जाती है। तब प्रेम अपने यथार्थ रूप में प्रकट होता है। तब उसका लक्ष्य होता है याग। जब दुःख और वेदना के द्वारा प्रेम का परिपाक होता है तब उसका रूप विशुद्ध हो जाता है। तभी समस्त विश्व से उसका सम्बन्ध हो जाता है। कोई क्षुद्र नहीं रहता, कोई हेय नहीं रह जाता है। तब सभी को प्रेमी अपना लेता है। इसी से प्रेम का यथार्थ परिचय हमें होता और सहानुभूति में मिलता है, मायावेग में नहीं। जिस प्रेम का आविर्भाव निष्क्रिय मायावेश में होता हैं वह विकार मात्र है। भक्त-कवियों ने भगवद्-प्रेम में आत्म-समर्पण और तल्लीनता का ही वर्णन किया है। इसका कारण यह है कि उन्होंने सदैव भाव को प्रधानता दी है, मान को नहीं है। भाव के अनुकूल तो क्रिया होगी ही। आधुनिक साहित्य में क्रिया की प्रधानता है। राधा के वर्णन में प्राचीन कवियों

भाई हैं। सभी भक्त-कवियों के सम्बन्ध में एक ही प्रका
की कथा प्रचलित है। सभी के सम्बन्ध में यह कहा जात
है कि वे पहले किसी स्त्री के प्रेम में पड़कर अपनी बुद्धि खे
चुके थे। उसके बाद किसी के उपदेश से या अन्य किसं
घटना विशेष से उनके हृदय में भगवद्भक्ति का सहस
प्रादुर्भाव हुआ और वे भगवान के अनन्य भक्त हो गये। इ
कथाओं की घटनाये भले ही सच न हो, पर उसमें प्रेम औ
भक्ति का यथार्थ रहस्य छिपा है। जब धर्म का चरम लक्ष
ईश्वर से मिलन होता है तब साधना की गति रस की ओ
होती है। हृदय में पहले प्रेम-रस का लक्ष्य सम्भोग की ओ
होता है. उसकी ओर चित्त को प्रेरित करने से दुर्लत
और विकार उत्पन्न होते है। मनुष्यत्व दुर्गति को प्राप्त होत
है। जब उसकी निस्सारता हृदय में अङ्कित हो जाती है
तब प्रेम अपने यथार्थ रूप में प्रकट होता है। तब उसक
लक्ष्य होता है याग। जब दुःख और वेदना के द्वारा प्रेम क
परिपाक होता है तब उसका रूप विशुद्ध हो जाता है
तभी समस्त विश्व से उसका सम्बन्ध हो जाता है। कोई
क्षुद्र नहीं रहता, कोई हेय नहीं रह जाता है। तब सभी को
प्रेमी अपना लेता है। इसी से प्रेम का यथार्थ परिचय हमें
होना और सहानुभूति में मिलता है, मायावश में नहीं। जिस
प्रेम का भाविसान निष्क्रिय मायावश में होता हैं वह विकार
मात्र है। भक्त-कवियों ने भगवद्-प्रेम में आत्म-समर्पण
और तल्लीनता का ही वर्णन किया है। इसका कारण यह
है कि उन्हों ने सदैव भाव को प्रधानता दी है, मान को नहीं
है। भाव के अनुकूल तो क्रिया होगी ही। आधुनिक साहित्य
में क्रिया की प्रधानता है। राधा के वर्णन में प्राचीन कवियों

भाई हैं। सभी भक्त-कवियों के सम्बन्ध में एक ही प्रकार की कथा प्रचलित है। सभी के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वे पहले किसी स्त्री के प्रेम में पड़कर अपनी बुद्धि खो चुके थे। उसके बाद किसी के उपदेश से या अन्य किसी घटना विशेष से उनके हृदय मे भगवद्भक्ति का सहसा प्रादुर्भाव हुआ और वे भगवान् के अनन्य भक्त हो गये। इन कथाओं की घटनाये भले ही सच न हों, पर उनमें प्रेम और भक्ति का यथार्थ रहस्य छिपा है। जब धर्म का चरम लक्ष्य ईश्वर से मिलन होता है तब साधना की गति रस की ओर होती है। हृदय में पहले प्रेम-रस का लक्ष्य सम्भोग की ओर होता है. उसकी ओर चित्त को प्रेरित करने से दुर्बलता और विकार उत्पन्न होते हैं। मनुष्यत्व दुर्गति को प्राप्त होता है। जब उसकी निस्सारता हृदय में अङ्कित हो जाती है। तब प्रेम अपने यथार्थ रूप मे प्रकट होता है। तब उसका लक्ष्य होता है याग। जब दुःख और वेदना के द्वारा प्रेम का परिपाक होता है तब उसका रूप विशुद्ध हो जाता है। तभी समस्त विश्व से उसका सम्बन्ध हो जाता है। कोई क्षुद्र नहीं रहता, कोई हेय नहीं रह जाता है। तब सभी को प्रेमी अपना लेता है। इसी से प्रेम का यथार्थ परिचय हमें होता और सहानुभूति में मिलता है, मायावश में नहीं। जिस प्रेम का भाविसान निष्क्रिय मायावश में होता है वह विकार मात्र है। भक्त-कवियों ने भगवत्-प्रेम में आत्म-समर्पण और तल्लीनता का ही वर्णन किया है। इसका कारण यह है कि उन्हों ने सदैव भाव को प्रधानता दी है, मान को नहीं है। भाव के अनुकूल तो क्रिया होगी ही। आधुनिक साहित्य में क्रिया की प्रधानता है। राधा के वर्णन में प्राचीन कवियों

ताही छिन इक भवर कहूँ ते ही उड़ि आयो।
ब्रज बनितन के गुंज माहि गुंजत छबि छायो।
चढ़यो चहत पग पगनि पर अरुन कमलदल जानि।
मनु मधुकर ऊधो भयो प्रथमहि प्रगटयो आनि।
मधुप को भेष धारि।

कोई कहै के मधुप भेस उनही को धारयो।
श्याम पीत गुंजार बैन किंकिन झन कारयो।
तापुर गोरस चोरि कै फिरि आयो यहि देस।
इनको जनि मानहु कोऊ, कपटी इनको भेस।
देखि है आरसी।

कोउ कहे र मधुप कहा तू रस को जानै।
बहुत कुसुम पै बैठि सबै आपन सम मानै।
आपन सम हमको किया चाहत है मतिमन्द।
दुविध ग्यान उपजाय के दुखित प्रेम आनन्द।
कपट के छन्द सों।

कोउ कहे र मधुप प्रेम षट पद पसु देख्यो।
अब लौं यह ब्रज देस माहि कोउ नाहीं विसेख्यो।
है सिंग आनन उपर र कारे पीरो गात।
खल अमृत सम मानही अमृत देखि डरात।
बादि यह रसिकता।

कोउ कहे र मधुप ग्यान उलटौ लै आयो।
मुक्ति परे जे फेरि तिन्हे पुनि करम बतायो।
वेद उपनिषद सार जे मोहन गुन गहि लेत।
तिनके आतम शुद्ध करि फिरि करि सथा देत।
जोग चटसार में।

जो ऐसी मरजाद देखि मोहन को ध्यावैं।
काहि न परमानन्द प्रेम पद पी को पावैं।
ग्यान जोग सब करम ते प्रेम परे ही साँच।
यों यह पटतर देत हौं हीरा आगे काँच।
विषमता बुद्धि की।
धन्य धन्य जे लोग भजत हरि को जो ऐसे।
अन्न जो पारस प्रेम बिना पावत कोउ कैसे।
मेरे या लघु ग्यान को उर मद कह्यो उपाध।
अब जान्यो ब्रज प्रेम को लहत न आधौ आध।
वृथा श्रम करि थके।
करुना मई रसिकता है तुम्हरी सब झूठी।
जब ही लौं नहिं लखो तबहि लौं बाँधी मूठी।
मैं जान्यो ब्रज जाय कै तुम्हरो निर्दय रूप।
जो तुमको अवलम्ब ही वाको ये तो कूप।
कौन यह धर्म है।
पुनि पुनि कहै जु जाय चलो वृन्दावन रहिये।
प्रेम पुञ्ज को प्रेम जाय गोपिन सँग लहिये।
और काम सब छाँड़ि कै उन लोगन सुख देहु।
नातरु टूट्यो जात है अब ही नेह सनेहु।
करोगे ता कहा।
सुनत सखा के बैन नैन भरि आये दोऊ।
विवस प्रेम आवेस रही नाहीं सुधि कोऊ।
रोम रोम प्रति गोपिका ह्वै रहि साँवरे गात।
कल्प तरोरुह साँवरो ब्रज बनिता भईं पात।
उलहि अँग अँग ते।

पञ्चम परिच्छेद

[१]

कितने ही विद्वानों की राय है कि जातीय अभ्युदय से ही साहित्य का अभ्युदय होता है। भारतीय इतिहास में गुप्तवंश और श्रीहर्ष के काल में साहित्य की जैसी उन्नति हुई वैसी ही उन्नति देश के ऐश्वर्य में हुई। परन्तु इस मत का समर्थन किसी प्रकार नहीं किया जाता। बात यह है कि जब किसी युग में किसी देश की जातीय आत्मा जागृत होती है तब देश में एक नवीन शक्ति फैल जाती है। यह शक्ति कितने ही रूपों में प्रकट होती है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल में हिन्दू-साम्राज्य का गौरव नष्ट हो गया था। हिन्दू जाति ने मुसलमानों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। परन्तु

यह बात हमें नहीं भूल जानी चाहिए कि मुसलमानों के शासन-काल में भारतीय ऐश्वर्य पर भारतीयों का ही आधिपत्य था। देश धन-धान्य से पूर्ण था। हिन्दू-समाज में जो जीवन-धारा बह रही थी उसकी गति में मुसलमानों के शासन-काल में कोई बाधा नहीं हुई। राजनैतिक क्षेत्र में उत्क्रान्ति होने पर भी भारतीय समाज उससे क्षुब्ध नहीं हुआ। सच तो यह है कि जब जब भारतवर्ष पर विदेशियों का आक्रमण हुआ है तब तब उसने अपनी सत्य-साधना को एक नये ही रूप में प्रकट किया है। इसी से हम देखते हैं कि मुसलमानों के शासन-काल में ही हिन्दी साहित्य की विशेष वृद्धि हुई है। पर हमें यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि भारत पर मुसलमानों का आधिपत्य स्थापित नहीं हो गया। समस्त हिन्दू जाति ने—विशेषकर राजपूतों और मराठों ने—बड़ी दृढ़ता से उनका आक्रमण रोका था। मुसलमानों का पहला आक्रमण सन ६६४ ईस्वी में हुआ। उस समय मुसलमान मुलतान तक ही आकर लौट गए। उनका दूसरा आक्रमण सन ७११ में हुआ। तब उन्होंने सिंधु-देश पर अधिकार कर लिया था। परन्तु कुछ समय के बाद राजपूतों ने उनको वहां से हटा दिया। इसके बाद महमूद गजनवी का आक्रमण हुआ। उस समय भी मुसलमानों का प्रभुत्व यहां स्थापित नहीं हुआ सन ११९३ से मुसलमानों का शासन-युग प्रारम्भ हुआ। उत्तर भारत में उनका साम्राज्य स्थापित हो जाने पर भी दक्षिण में हिन्दू साम्राज्य बना रहा। विजयनगर का पतन हो जाने पर कुछ समय के लिये समग्र भारत पर से हिन्दू साम्राज्य का लोप होगया। परन्तु सत्रहवीं सदी में मराठे प्रबल हुए और अन्त में उन्होंने फिर हिन्दू साम्राज्य की स्थापना की। इसी समय अँगरेजों का प्रभुत्व बढ़ा और कुछ ही समय में

साधो देखो जग बौराना।
साँच कहो तो मारन धावै झूठे जग पतियाना
हिन्दू कहत है राम हमारा, मुसलमान रहिमाना।
आपस में दोउ लरि लरि मूये मरम न काहू जाना
हिन्दू दया मेहर की तुरकन, दोनों घट सों त्यागी।
वै हलाल वै झटका मारैं, आग दोऊ घर लागी
या विधि हँसत चलत है हमको आप कहावै स्याना
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, इनमें कौन दिवाना।

स्वदेश की कल्याण कामना से प्रेरित हो कबीर उस पथ को खोज निकालना चाहते थे जिस पर हिंदू और मुसलमान दोनों चल कर अपनी आत्मोन्नति कर सकें। परन्तु हिंदू एक ओर जा रहे थे और मुसलमान ठीक उसके विपरीत जा रहे थे कबीर ने उनको चेतावनी दी—

अरे इन दोउ राह न पाई।
हिन्दू की हिन्दुआई देखी तुरकन की तुरकाई।
[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

कबीर का प्रयास व्यर्थ नहीं हुआ । हिन्दू और मुसलमान सम्मिलन होने की ओर अग्रसर हुए । भाषा के क्षेत्र में इनका सम्मिलन बहुत पहिले हो चुका था । अमीर खुसरो ने इस कविता की नींव को दृढ़ किया । हिंदी में कागज पत्र, शादी ब्याह खत-पत्र आदि शब्द उसी सम्मिलन के सूचक हैं । इसके बाद जायसी ने मुसलमानों को हिंदी-साहित्य में सौन्दर्य का दर्शन कराया ।

तुरकी अरबी हिन्दवी भाषा जेती आहि
जेहि मह मारग प्रेम कर सबै सराहैं ताहि

मलिक मुहम्मद का प्रसिद्ध ग्रन्थ पदमावत है । उसमें पद्मावती और राजा रत्नसेन की प्रेम कथा वर्णित है । परन्तु उस प्रेम कथा में परम तत्त्व छिपा हुआ है—

मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा ।
कहा कि हम्ह किछु और न सूझा ।
चौदह भुवन जो तर उपराहीं ।
ते सब मनुष के घट माहीं ।
तन चितउर मन राजा कीन्हा ।
हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा ।
गुरु सुआ जेइ पंथ देखावा ।
बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा ।
नागमती यह दुनिया धंधा ।
बाँचा सोइ न एहि चित बंधा ।
राघव दूत सोइ सैतानू ।
माया अलाउद्दीं सुलतानू ।
प्रेम कथा एहि भाँति विचारहु ।
बूझि लेहु जो बूझै पारहु ।

अर्थात्, मैंने जब इस कथा का अर्थ पण्डितों से पूछा तब उन्होंने कहा हमें तो दूसरा और कुछ सूझता। मनुष्य के शरीर में चौदहों भुवन विद्यमान हैं। शरीर ही चित्तौर है और उस तन रूपी चित्तौर गढ़ का राजा मन है। हृदय सिंघल है जहां ईश्वर से मिलाने वाली बुद्धि पद्मिनी का जन्म हुआ था। मार्ग-प्रदर्शक गुरु सुआ है। विना गुरु किसे ईश्वर की प्राप्ति संभव है। नागमती संघल का ज्ञान है। जो इसमें बद्ध नहीं हुआ उसी का कल्याण है। राघव चेतन शैतान है और अलाउद्दीन ही माया है।

परन्तु पद्मावत का कितना ही गूढ अर्थ क्यों न हो, वर्णन में कथा रस का व्याघात कहीं नहीं हुआ है। फ़कीरों का गुप्त ग्रन्थ होने पर भी पद्मावत में वे सभी गुण विद्यमान हैं जिनके कारण कोई भी कथा लोक प्रिय होती है। जायसी को अपनी रचना पर विश्वास था। वे जानते थे कि उनकी यह कथा साहित्य की स्थायी सम्पत्ति है

मुहमद कवि यह जोरि सुनावा ।
सुना सो पेम पीर कर पावा ।
जोरी लाइ रकत कै लेई ।
गाढ़ि प्रीति नयनन्ह जल भेई ।
औ मैं जानि गीत अस कीन्हा ।
मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा ।
कहा सो रतनसेन अब राजा ।
कहा सुआ अस बुधि उपराजा ।
कहा अलाउद्दीन सुल्तानू ।
कहँ राघव जेइं कीन्ह बखानू ।

कहँ सुरूप पदमावति रानी।
कोई न रहा जग रही कहानी।
धनि सोई जग कीरति जासू।
फूल मरै पै मरै न बासू।

केइ न जगत जस बेंचा केइ न लीन्ह जस मोल।
जो यह पढ़ै कहानी हम्ह सवरै दुइ बोल।

वृद्धावस्था में जायसी को कदाचित् विशेष शारीरिक कष्ट हुआ उसके सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—

मुहमद बिरिध बैस जो भई।
जोबन हत सो अवस्था गई।
बल जो गएउ कै खीन सरीरू।
दिस्टि गइ नैनहि देइ नीरू।
दसन गए कै पचा कपाला।
बैन गए अनरुच देइ बोला।
बुधि जो गई देइ हिय बौराई।
गरब गएउ तरहुत सिर नाई।
सरवन गए केसहि देइ सूना
जोबन गएउ जानि लेइ जूना।
जौलहि जोबन जोबन साथा।
पुनि सो मीचु पराए हाथा।

बिरिध जो सीस डोलावै सीस धुनै तेहि रीस।
बूढ़ी आऊ होहु तुम्ह केइ यह दीन्हि असीस॥

जायसी शेरशाह के शासन-काल में हुए थे। शेरशाह के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—

चढ़ा असाढ़ गगन घन गाजा।
साजा विरह दुन्द दल बाजा।
धूम साम धौरे घन धाये।
सेत धजा वगपाति देखाये।
खडग बीजु चमकै चहु ओरा।
बुन्द बान वरसहिं घन घोरा।
ओनई घटा आई चहुँ फेरी।
कस उवारु मदन हैं, घेरी।
दादुर मोर कोकिला पीऊ।
गिरै बीजु घट रहै न जीऊ।
पुष्य नखत सिर ऊपर आवा।
हौं विनु नाह मंदिर को छावा।
अद्रा लाग लागि भुइं लेई।
मोहिं विनु पिउ को आदर देई।

जिन्ह घर कंता ते सुखी तिन्ह गारौ औ गर्व।
कन्त पियारा बाहिरै हम सुख भूला सर्व।

सावन वरस मेह अति पानी।
भरनि परी हौं विरह झुरानी।
लाग पुनरबसु पीउ न देखा।
भइ बाउरि कह कन्त सरेखा।
रक्त कै आंसु परहिं भुइँ टूटी।
रेंगि चलीं जस बीर बहूटी।
सखिन्ह रचा पिउ सग हिंडोला।
हरियरि भूमि कुसुम्भी चोला।
हिय हिंडोल अस डोलै मोरा।
विरह झुलाइ देइ झकझोरा।

सौर सपेती आवै जूड़ी।
जानेहु सेज हिवंचल बूड़ी।
चकई निसि बिछुरै दिन मिला।
हौं दिन राति बिरह कोकिला।
रैनि अकेलि साथ नहिं सखी।
कैसे जियै बिछोही पखी।
बिरह सचान भएउ तन जाड़ा।
जियत खाइ औ मुए न छाड़ा।

रकत ढुरा माँसू गरा हाड़ भएउ सब संख।
धनि सारस होइ ररि मुई पीउ समेटहि पंख

लागेउ माघ परै अब पाला।
बिरहा काल भएउ जड़काला।
पहल पहल मन रूई झाँपै।
हहरि हहरि अधिकौ हिय काँपै।
आइ सूर होइ तपु रे नाहा।
तोहि बिनु जाड़ न छूटै माहा।
एहि माह उपजै रस मूलू।
न सौ भौंर मोर जोबन फूलू।
नैन चुवहिं जस महवट नीरू।
तोहि बिनु अंग लाग सर चीरू।
टप टप बूँद परहि जस ओला।
बिरह पवन होइ मारै झोला।
केहिक सिंगार को पहिरु पटोरा।
गीउ न हार रही होइ डोरा।

तुम बिनु काँपै धनि हिया तन तिनउर भा डोल
तेहि पर बिरह जराइ कै चहै उड़ावा झोल।

मोकहँ फूल भए सब काँटे।
दिस्टि परत जस लागहिं चाँटे।
फरि नारँग नए सारँग पाका।
सूआ बिरह अब जाइ न राखा।
बिरहिनि परवा होइ पिउ आउ बेगि पद टूटि।
नारि पराए हाथ है तोहि बिनु पाव न छूटि।

भा बैसाख तपनि अति लागी।
चोआ चीर चंदन भा आगी।
सूरुज जरत हिवंचल ताका।
बिरह बजागि सौंह रथ हाँका।
जरत बजागिनि करु पिउ छाहाँ।
आइ बुझाउ अँगारन्ह माहाँ।
तोहि दरसन होइ सीतल नारी।
आइ आगि तें करु फुलवारी।
लागिउँ जरै जरै जस भारू।
फिरि भूँजेसि २ तजिउँ न बारू।
सरवर हिया घटत निति जाई।
टूक टूक होइ कै बिहराई।
बिहरत हिया करहु पिउ टेका।
दीठि दवँगरा मेरवहु एका।
कँवल जो बिगसा मानसर बिनु जल गएउ सुखाइ।
अबहु बेलि फिरि पलुहै जो पिउ सींचै आइ॥

जेठ जरै जग चलै लुवारा।
उठहि बवण्डर परहि अँगारा।
बिरह गाजि हनुवंत होइ जागा।
लंका दाह करै तनु लागा।

चारिहु पवन झकोरे आगी।
लंका दाहि पलंका लागी।
दहि भइ साम नदी कालिन्दी।
बिरहक आगि कठिन अति मन्दी।
उठै आगि औ आवै आँधी।
नैन न सूझ मरौं दुख बाँधी।
अधजर भइउँ माँसु तन सूखा।
लागेउ बिरह काल होइ भूखा।
माँसु खाइ अब हाडन्ह लागै।
अबहु आउ आवत सुनि भागै।

गिरि, समुद्र, ससि, मेघ, रबि सहि न सकहि वह आगि।
मुहमद सती सराहिए जरै जो अस पिउ लागि।

मलिक मुहम्मद जायसी केवल कवि नहीं थे, साधक भी थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों उनकी पूजा करते थे। कितने ही लोग उनके शिष्य थे। अतएव यह कहना नहीं होगा कि हिन्दी भाषा में रचना कर उन्होंने मुसलमानों को हिन्दू जाति से प्रेम करने की शिक्षा दी। जायसी के धार्मिक विचारों का आभास उनके अखरावट में मिलता है। अपने धर्म पर अविचल रह कर भी कोई दूसरे के धर्म को श्रद्धा की दृष्टि से देख सकता है। यही नहीं, किन्तु वह उसमें सत्य का यथार्थ और आत्मरूप देख सकता है। यह बात जायसी की कृति से प्रकट होती है। हिंदू भी मुसलमानों की तरह ईश्वर की सन्तान हैं। यही नहीं उनका भी धर्म ईश्वर प्रदत्त है। अतएव वे हमारी घृणा के पात्र नहीं हैं।

तिन्ह संतति उपराजा भाँतिहि भाँति कुलीन।
हिंदू तुरुक दुवौ भए अपने अपने दीन।

जायसी ने जो शिक्षायें दी हैं उनमें ऐसी कोई शिक्षा नहीं है जिसे कोई हिंदू अस्वीकार कर सके। ईश्वर की सर्व व्यापकता पर उन्होंने कहा है।

जस तन तस यह धरनी जस मन तइस अकास।
परम हंस तेहि मानस जइस फूल महँ बास।

जो उसका दर्शन करना चाहते हैं उन्हें अपने मन को सदैव स्वच्छ रखना चाहिये।

तन दरपन कहँ साजु दरसन देखा जो चहय।
मनसौं लीजई माजि, महमद निरमल होइ दिआ।

उन्होंने एकत्ववाद की सदैव शिक्षा दी है—

एक कहत दुइ होय दुइसे राज न चल सकइ।
बीच तें आपहु खोय महमद एकाम्र होइ रहइ।

भोग्य और भोक्ताओं में भी उन्होंने कोई भिन्नता नहीं देखी है—

सबइ जगत दरपन कइ लेखा।
आपुहि दरपन आपुहि देखा।
आपुहि वन अउ आपु पखेरू।
आपुहि सउजा आप अहेरू।
आपुहि पुहुप फूल-बन फूले।
आपुहि भँवर बास-रस भूले।
आपुहि फल आपुहि रखवारा।
आपुहि सोरस चाखन हारा।
आपुहि घटघट मँह मुख चाहइ।
आपुहि आपन रूप सराहइ।

सत्य न तो प्राचीन है और न नवीन। अबुलफ़ज़ल का यह उद्गार मध्ययुग का नव सन्देश था। मुगलों के शासन काल में हिन्दी साहित्य की जो श्री वृद्धि हुई उसका कारण यही है कि उस समय मुसलमान भारत को स्वदेश समझने लगे थे। न तो हिन्दुओं ने तत्कालीन राजभाषा की उपेक्षा की और न मुसलमानों ने हिन्दी साहित्य की। उस समय वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों ने धार्मिक विरोध को भी हटाने की चेष्टा की। कितने ही मुसलमान साधक श्रीकृष्ण के उपासक हो गये।

राजनीति के क्षेत्र में हिंदू और मुसलमान जाति का विरोध नहीं दूर हुआ। समाज के क्षेत्र में भी दोनों का संघर्षण बना रहा। तो भी साहित्य के क्षेत्र मे दोनों ने सत्य को ग्रहण करने में संकोच नहीं किया। इसी चिरंतन सत्य के आधार पर इसी ऐक्यमूलक आध्यात्मिक आदर्श की भित्ति पर भारत ने अपनी जातीयता की स्थापना की है। इस जातीयता में सभी जातियां अपने अस्तित्व को स्थिर रख सकती हैं। इसमें सम्मिलित होने के लिए हिंदुओं ने अपना हिंदुत्व नहीं छोड़ा और न मुसलमानों ने अपने धार्मिक और सामाजिक संस्कारों का परित्याग किया। परन्तु इन दोनों का मिलन अनन्त सत्य के मंदिर में हुआ जहां वाह्य आचार व्यवहार और कृत्रिम जाति-भेद के बंधन से मनुष्य जाति की एकता भिन्न नहीं होती।

[२]

इतिहासज्ञों का कथन है कि मुग़लों का शासन काल हिन्दी साहित्य के लिए स्वर्ण-युग है। इसमे सन्देह नहीं

हिन्दी में रहीम कवि के दोहे बड़े प्रसिद्ध हैं। उनमें नीति की शिक्षा दी गई है पर उनमें कवित्व-कला का यथेष्ट परिपाक हुआ है। रहीम ने आचार्य के आसन पर बैठकर लोगों को कर्तव्याकर्तव्य की शिक्षा नहीं दी है। उन्होंने अपने जीवन-सागर का मथन कर अनुभूति द्वारा जो अमृत प्राप्त किया है उसे संसार को दे डाला है। उन दोहों में कहीं उल्लास है, कहीं गूढ़ व्यथा है, कहीं दर्प है, कहीं तिरस्कार है कहीं आवेग है, कहीं निराशा है, कहीं भक्ति है और कहीं उपहास है। हिन्दी में बिहारी के भी दोहे प्रसिद्ध हैं और वृन्द के भी। बिहारी के दोहों में केवल कला का चमत्कार है और वृन्द कवि के दोहों में केवल साधारण नीति की साधारण बातें हैं। परन्तु रहीम के दोहों में सत्य जीवन के रस से युक्त होकर झलक रहा है। बिहारी और वृन्द कवि अपनी रचनाओं में छिप गये हैं। उनकी अन्तरात्मा का दर्शन हम कहीं कहीं दस-पांच दोहों में ही करते हैं। पर रहीम के सभी दोहों में उनके प्राण का आवेग, हृदय का भाव, उनकी आत्मा का उच्छ्वास विद्यमान है।

रहीम का पूरा नाम है अब्दुल-रहीम ख़ानखाना। ये अकबर के प्रधान सेनापति थे ये अकबर के गुरु बैरामखां के पुत्र थे। ये अकबर की राजसभा के रत्न थे। अकबर का शासन-काल भारतीय इतिहास में अपूर्व है। किसी हिन्दी कवि ने यथार्थ लिखा है।

> दिल्ली ते न तख्त ह्वै है बख्त न मुगल कैसो
> ह्वै न नगर बढ़ि आगरा नगर तें।
> गंग ते न गुनी, तानसेन से न तानबाज
> मान ते न राजा औ न दाता बीरबर तें।

खान खान खाना ते न नर नरपति ते न
ह्वै है न दिवान कोऊ बेडर टोडर तें।
नयो नवखण्ड नयो द्वीप नवहू समुद्र पार
ह्वै है जलालुद्दीन शाह अकबर तें।

यों तो रहीम के सभी दोहों में उनके मानसिक भावों के चित्र हैं पर निम्न लिखित दोहे उन्होंने अपनी विपदा-वस्था में ही लिखे थे—

ये रहीम घर घर फिरैं माँगि मधुकरी खाहिं।
यारो यारी छोड़ दो वे रहीम अब नाहिं।
चित्रकूट में रमि रहे रहिमन अवध नरेश।
जा पर बिपदा परति है सो आवत यहि देस।

रहीम स्वयं कवि थे और कवियों के आश्रय-दाता थे। उनकी कविताओं में हिन्दू भाव की ही सर्वत्र छाया है। रसखान की तरह रहीम ने हिन्दू-धर्म को स्वीकार नहीं किया था परन्तु [illegible] में हिन्दू-धर्म का प्रभाव [illegible] नहीं [illegible] धार्मिक [illegible] अनुराग रखकर [illegible] मुसलमान [illegible] धर्म के प्रति [illegible] भाव का [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible]

रहिमन रहिला की भली जो परसै चित लाय।
परसत मन मैला करे सो मैदा जरि जाय।
छिमा बड़ेन को चाहिए छोटेन को उतपात।
का रहीम हरि को घटा जो भृगु मारी लात।
जो दीन को दुख सुने होत दया उर आनि।
हरि हाथी सो कब हुती कहु रहीम पहिचानि।

ऐसे ही भावों के द्योतक और भी कितने दोहे हैं। ऐसा जान पड़ता है कि कवि ने उदर-निर्वाह के लिए बड़े कष्ट सहे हैं। उसे अपमान सहना पड़ा है। उसे ग्लानि भी हुई है। अपने अपराधों के लिए उसे क्षमा-याचना भी करनी पड़ी है और दैन्यावस्था में उसे अपने से कहीं बड़े लोगों का आश्रय ग्रहण करना पड़ा है वह भी अपनी दुख गाथा सुनाकर। रहीम के दोहों में केवल कल्पना के चित्र नहीं हैं। उनके हृदय का उद्गार है। उनमें दूसरों पर जो आक्षेप किया गया है वह भी ऐसा नहीं है कि नवाबों के मुह से निकले—

प्यादे सो फरजी भया तिरछा तिरछो जात।

अथवा

होय न जाकी छांह ढिग फल रहीम अति दूर।
बाढ़ेहु सो बिन काज ही जैसे तार खजूर।

अथवा

बढ़त रहीम धनाढ्य धन धनै धनी को जाइ।
✓ घटै बढ़ै, तिनको कहा भीख मांगि जो खाइ।

सम्भव है कि किसी हिन्दू कवि ने ही रहीम के नाम से दोहे लिखे हों।

जो दूसरों का उपकार करे, दरिद्रों का दुख सुने वे धन्य हैं। सुदामा और कृष्ण की मैत्री धन्य है। हरि की गज पर कृपा होने से ही उनकी महिमा है। किसी को न आश्रय देने वाले की उन्नति व्यर्थ ही है।

रहिमन निज मन की व्यथा मन ही राखो गोय।
सुनि अठिलै हैं लोग सब, बाँटि न लैहै कोय।

अपने मन के दुख को छिपा कर रखना चाहिए। सुन कर लोग केवल हंसी उड़ाते हैं। कोई उसमें हिस्सा नहीं लेता।

रहिमन चुप ह्वै बैठिये देखि दिनन को फेर।
जब नीके दिन आइ है बनत न लगि है देर।

दुर्दिन आने पर चुप बैठ जाना चाहिए। जब अच्छा दिन आता है तब बात बनते देरी नहीं लगती।

गहि सरनः गति राम की भव सागर की नाव।
रहिमन जगत उधार का और न कछू उपाव।

अब न कोई उपाय नही। केवल भगवान का आश्रय ग्रहण कर। वही इस भव सागर के लिए नौका है।

रहिमन वे नर मर चुके जे कहु मांगन जाहिं।
उनमे पहले वे मुए जिन मुख निकसति नाहि।

मांगने वाले अपनी सारी प्रतिष्ठा खोकर मागने जाता है। जो सहायता नहीं देते उनको तो कोई प्रतिष्ठा नहीं है।

रहिमन विपदा तू भली जो थोरे दिन होय।
हित अनहित या जगत में जान परत सब कोय।

विपत्ति में भले और बुरों की परीक्षा हो जाती है।

मान ही सबसे बड़ी चीज़ है। मान नष्ट होने पर सभी नष्ट हो गया।

तैं रहीम मन आपनो कीन्हो चारु चकोर।
निसि बासर लाग्यो रहे कृष्ण चन्द्र की ओर।

तू अपने मन को चकोर बना जिससे कृष्णचन्द्र के ही ध्यान में दिन रात मग्न रहे।

जो रहीम करिबो हुतो ब्रज को यही हवाल।
तो काहे कर पर धरयो गोवर्धन गोपाल।

हे नाथ, जब आपको ब्रज वासियों को यह वियोग दुख देना था तब आपने उनकी व्यर्थ ही रक्षा की। न वह रहता और न यह दुख सहना।

सर सूखे पक्षी उड़ें औरै सरन समाय।
मीन दीन बिन पंख को कहु रहीम कहं जाय।

सर के सूख जाने पर पक्षी तो उड़ जाते हैं, पर मछलियां कहां जाय। उनको दूसरी गति नहीं है।

काउ रहीम जनि काहु के द्वार गये पछिताय।
सम्पति के सब जात हैं विपति सबै ले जाय।

सम्पत्ति में सभी जाते हैं और विपत्ति सभी को ले जाती है। यही भेद है।

समै परे ओछे बचन सब के सहे रहीम।
सभा दुसासन पट गहे गदा रहे गहि भीम।

बुरा समय आने पर सब लोगों की नीच बातें भी सहनी पड़ती है।

सबै कहावै लसिकरी सब लसिकर कह जाय।
रहिमन से सह जोइ सहै सोई जगीरै खाय।

यों तो सिपाही सभी बनते हैं पर जो, तलवार की चोट सहे वही जागीर का उपभोग कर सकता है।

करत निपुनई गुन बिना रहिमन गुनी हुजूर।
मानहु टेरत बिटप चढ़ि नहि सकार हम कूर।

गुण न होने पर भी जो अपनी निपुणता प्रकट करने की चेष्टा करते हैं वे मानो पुकार पुकार कर अपनी नीचता का परिचय देते फिरते हैं।

आवत काहू काम के डार पात फल फूर।
और न हू रोकत फिरै रहिमन पेड़ बबूर।

उपकार तो किसी का वे कर नहीं सकते। पर दूसरों के कार्य में बाधा जरूर डालते हैं। ऐसे दुष्ट जनों का अभाव नहीं है।

उवत चंद जिहि भाँति सों अथवत ताही भाँति।
यों रहीम सुख दुख सहत बड़े लोग सह सांति।

जो महात्मा होते हैं उनकी सदैव एक ही अवस्था बनी रहती है उन्नति में उनका जो तेज रहता है वही अवनति काल में भी बना रहता है

रहीम के सम्बन्ध में एक कथा यह प्रचलित है कि वे अपनी विपदावस्था में किसी कुंजड़े के यहाँ भाड़ झोंकने लगे थे उस समय किसी सज्जन ने उस अवस्था में देखकर कहा—

जाके सिर अस भार, सो कस झोंकत भार अस

उसके उत्तर में रहीम ने कहा—

रहिमन उतरे पार भार झोंकि सब भार में।

इस कथा में सत्यता का जरा भी अंश नहीं है। रहीम के लिये यह नीच दास-वृत्ति असंभव है। परन्तु इससे यह बात अवश्य सिद्ध होती है कि उन्होंने सर्व साधारण के के हृदय मे इतना अधिकार कर लिया था कि उनके साथ सभी की सहानुभूति थी।

अकबर की राज सभा के रत्नों का उल्लेख जिस कवित्त मे किया गया है उसमे नरहरि का भी नाम आया है। उनमें कहा गया है कि नरहरि के समान दूसरा मनुष्य कौन होगा। उनके विषय मे यह प्रसिद्ध है कि निम्नलिखित छप्पय के कारण अकबर ने अपने राज्य म गोवध बंद करा दिया—

अरिहु दन्त तृन धरैं ताहि मारत न सबल कोइ।
हम सन्तत तृन चरहिं बचन उच्चरहिं दीन होइ।
अमृत दय नित स्रवहिं बच्छ महि थमन जावहि।
हिन्दुहि मधुर न देहि कटुक तुरुकहि न पियावहि।
कह कवि नरहरि अकबर सुनो बिनवत गउ जोरे करन।
अपराध कौन मोंहि मारियत मुयहु चाम सेवइ चरन।

नरहरि के कितने ही छप्पय हिन्दी मे प्रसिद्ध हैं। उन सभी म नीति की शिक्षा बड़ी कुशलता से दी गई है। उनसे उनकी स्पष्ट वादिता, निर्भीकता और चरित्र की दृढ़ता प्रकट होती है। उन्होंने उपदेश नहीं दिया है, मार्ग बतलाया है। उनकी रचनाओं में व्यंग है, आक्षेप ह, तिरस्कार है।—

ज्ञान बान हठ करैं निधन परिवार बढ़ावै।
बँधुआ करै गुमान धनी सेवक ह्वै धावै।
पण्डित किरिया हीन राउ दुरबुद्धि प्रमाने।
धनी न समझै धर्म नारि मरजाद न माने।

नरहरि के समान गंग का भी नाम अकबर की राज-सभा के नर-रत्नों में लिया जाता है। गंग की कुछ ही रचनायें हिन्दी में प्राप्य हैं—

प्रबल प्रचड बली बैरम के खानखाना
तेरी धाक दीपन दिसान दह दहकी।
कहै कवि गंग तहां भारी सूरवीरन के
उमड़ि अखड दल प्रलै पौन बहकी।
मच्यो घमसान तहां तोप तीर बान चलैं
मडि बलवान किरवान कोपि गहकी।
तुण्ड काटि मुड काटि जोसन जिरह काटि
नीमा जामा जीन कटि जिमीं आनि ठहकी।

अर्थात् हे खानखाना, तेरी धाक, तेरा तेज चारों ओर, सर्वत्र, उदीप्त हो रहा है। तुम्हारे शूरों का दल प्रलयकाल की पवन की तरह उमड कर शत्रुओ पर टूट पड़ा। बड़ा भयानक युद्ध हुआ। तेग, तीर और वाण खूब चले। फिर जब तुमने क्रुद्ध होकर तलवार ग्रहण की तब हाथियों की सूँड, शत्रुओं के सिर, जिरह बखतर, जीन सब कट कर जमीन पर आ लगी।

भुकत कृपान मयदान ज्यों उदोत भान
एकन ते एक मानो सुखमा जरद की।
कहै कवि गग तेरे बल की बयारि लागे
फूटी गज घटा घन घटा ज्यों सरद की।
ऐते मान सोनित की नदिया उमड़ चलीं
रही न निसानी कहू महि में गरद की।
गौरी गह्यो गिरिपति गनपति गह्यो गौरी
गौरीपति गह्यो पूँछ लपकि बरद की।

उदीयमान सूर्य की तरह तुम्हारी तलवार के चमकते ही बड़े बड़े वीरों के मुख की कांति पीली पड़ जाती है। तेरी बल-रूपी पवन के लगने से गजों की घटा घनघटा की तरह उड़ जाती है। रक्त की ऐसी नदी बही कि उससे पृथ्वी पर कहीं धूल का चिन्ह नहीं रह गया। घबड़ाकर पार्वती जी ने शंकर जी को, गणेश जी ने पार्वती जी को और शंकर जी ने लपककर बैल की पूंछ पकड़ ली।

फूट गये हीरा की बिकानी कनी हाट हाट
काहू घाट मोल काहू बाढ़ मोल को लयो।
टूट गई लंका फूट मिल्यो जो विभीषण है
रावन समेत बंस आसमान को गयो।
कहै कवि गंग दुरजोधन से छत्र धारी
तनिक में फूटे तें गुमान वाको नै गयो।
फूटे तें नरद उठि जात बाजी चौसर की
आपुन के फूटे कहु कौन को भलो भयो।

फूट से अलग अलग होने से हीरा का मूल्य नष्ट हुआ लंका नष्ट हुई दुर्योधन हत हुआ चौसर की बाजी भी चली गई। फूट से भलाई हुई कब है?

अधर मधुर पेय बदन सुधाकर छवि
विधि माना विधु कीन्हो कर को उदधि है।
कान्ह देखि आवत अचानक मुरि परी
बदन दुराइ सखियान लीन्हें सधि है।
मारि गई नैन दृग शर बेधि गिरिधर
आधी चितवन में प्रधान कीन्ही व्याधि है।
बान बधि बधिक बधे को खोज लेत फेरि
बधिक बधू न खोज लीन्ही फेरि बधि है।

नरहरि के समान गंग का भी नाम अकबर की राज-सभा के नर-रत्नों में लिया जाता है। गंग की कुछ ही रचनायें हिन्दी में प्राप्य हैं—

प्रबल प्रचंड बली बैरम के खानखाना
तेरी धाक दीपन दिसान दह दहकी।
कहै कवि गंग तहां भारी सूरवीरन के
उमडि अखंड दल प्रलै पौन लहकी।
मच्यो घमसान तहां तोप तीर बान चलैं
मंडि बलवान किरवान कोपि गहकी।
तुंड काटि मुंड काटि जोसन जिरह काटि
नीमा जामा जीन कटि जिमीं आनि ठहकी।

अर्थात् हे खानखाना, तेरी धाक, तेरा तेज चारों ओर, सर्वत्र, उद्दीप्त हो रहा है। तुम्हारे शूरों का दल प्रलयकाल की पवन की तरह उमड कर शत्रुओं पर टूट पडा। बडा भयानक युद्ध हुआ। तेग, तीर और बाण खूब चले। फिर जब तुमने क्रुद्ध होकर तलवार ग्रहण की तब हाथियों की सूँड, शत्रुओं के सिर, जिरह बखतर, जीन सब कट कर जमीन पर आ लगा।

झुकत कृपान मयदान ज्यों उदोत भान
एकन ते एक मानो सुखमा जरद की।
कहै कवि गंग तेरे बल की बयारि लागे
फूटी गज घटा घन घटा ज्यों सरद की।
ऐते मान सोनित की नदियां उमड चलीं
रही न निसानी कहूं महि में गरद की।
गौरी गह्यो गिरिपति गनपति गह्यो गौरी
गौरीपति गह्यो पूँछ लपकि बरद की।

मदन कदन सुत वदन रदन किधौं ।
विघन विना सब की विधि पहिचानिये ।

अर्थात् यह सत्वगुण की सचाई है या सत्य का शुभ अस्तित्व है या सिद्धि की प्रसिद्धि है या इसे हम सुबुद्धि को ही वृद्धि मानें। यह ज्ञान की गरिमा है या विवेक की महिमा है या हम अपने हृदय में यह समझें कि हमें दर्शन-शास्त्र का ही दर्शन हो रहा है। यह पुण्य का प्रकाश है अथवा वेद-विद्या की शोभा है अथवा हम यह जाने कि संसार में यश का निवास यह है अथवा यह गणेश जी के मुख का दांत है या विघ्न नष्ट करने की युक्ति।

बालक मृनालनि ज्यो तोरि डारै सबै काल
कठिन कराल त्यों अकाल दीह दुख को।
विपति हरत हठि पद्मिनी के पात सम
पङ्क ज्यों पताल पेलि पठवै कलुप को।
दूरि कै कलङ्क अंक भव सीस ससि सम
राखत है केशोदास दास के वपुप को।
सांकरे की साङ्करन सनमुख होत नोरै
दशमुख मुख जोवै गजमुख मुख को॥
ऋषि उठो प्राप निधि तप नहि ता चडो
सीरिये शरीर गति भई रजनीश की।
अजहू न ऊचो चाहे अनल मलिन मुख
लागि रही लाज मुख मानो मन बीस की।
छवि सों छबीली लक्षि छाती में छुपाई हरि
छूटि गई दानि गति कोटहू तैंतीस की।
केशोदास तेही काल कारोई है आयो काल,
सुनत श्रवण बकसीस एक ईश की।

अर्थात् कानों से महादेव जी के दान की बात सुनते ही समुद्र कांप उठा, सूर्य को ज्वर चढ़ आया, चन्द्रमा का शरीर ही ठंडा पड़ गया। अग्निदेव का मुख मलीन हो गया और अभी तक वे ऊंचा मुख ही नहीं करते मानों उस पर लज्जा की घोर मन कालिमा लग गई। विष्णु ने सौन्दर्यमयी लक्ष्मी को छाती में छिपा लिया। तैंतीस करोड़ देवों की दानशीलता छूट गई। और दूसरों की क्या कहें उस समय तो काल भी काला पड गया।

आशी विष राक्सन दैयतन दै पताल
सुरन नरन दियो दिवि भू निकेतु है।
थिर चर जीवन को दीन्ही वृत्ति केशोदास
दीवे कहँ कहौ कहा और कोउ हेतु है।
सीत बात ताप तेज आवत समय पाय
काहू पै न ताको जाय ऐसो बाधो सेतु है।
थिर सब जड़ चेत जहां तहां देखियत
विधि ही को कीन्हों सब सब ही को देतु है।

अर्थात् पाताल लोक तो ब्रह्मा ने नागों, राक्षसों और दैत्यों को दिया। देवताओं को उन्होंने स्वर्ग दिया और मनुष्यों को निवास-स्थान के लिए पृथ्वी दी। स्थावर और जंगम प्राणियों को उन्होंने उनकी जीवन-वृत्ति दी। देने के लिए अब और क्या रह गया? शीत वायु जल तेज ये सब तो समय आने पर सभी पाते हैं उन्होंने तो इसके लिए ऐसी मर्यादा स्थापित कर दी है कि उसका उल्लंघन ही नहीं किया जा सकता। सच्ची बात तो यह है कि किसी भी समय कहीं भी जो कुछ दिया जाता है वह सब ब्रह्मा जी का दिया हुआ है।

बानी जगरानी की उदारता बखानी जाय
ऐसो मति उदित उदार कौन की भई।
देवता प्रसिद्ध सिद्ध, ऋषिराज तप वृद्ध
कहि कहि हारे सब कहि न काहू लई।
भावी भूत वर्तमान जगत बखानत है
केशोदास क्योंहू न बखानी काहू पै गई।
वर्णै पति चार मुख पूत वर्णै पाच मुख
नाती वर्णै षट मुख तदपि नई नई।

अर्थात् ऐसी बड़ी बुद्धि किसकी है जो सरस्वती की उदारता का वर्णन कर सके। बड़े बड़े देव, सिद्ध, तपोवृद्ध ऋषि सब कह कह कर हार गये। संसार में भूत, भविष्य और वर्तमान बतलाने वाले हैं पर किसी से सरस्वती की उदारता का वर्णन न किया जा सका। ब्रह्मा जी उसे अपने चारों मुखों से कहते कहते थक गये। शिवजी अपने पाचों मुखों से भी उसे नहीं कह सके और कुमार के छ मुख भी थक गये। सरस्वती की उदारता की बातें नई ही बनी रहीं।

पूरन पुराण अस पुरुष पुराने परि
पूरन बतावै न बतावै और उक्ति को।
दरसन देत जिन्हें दरसन समझैं न
नेति नेति कहैं वेद छाडि भेद युक्ति को।
जानि यह केशोदास अनु दिन राम राम
रटत रहत न डरत पुन सक्ति को।
रूप देइ आनिमाहि, गुन देइ गरि माहि
भक्ति देइ महिमाहि नाम देइ मुक्ति को।

पुराण और वृद्धजन सभी केवल यही कहते हैं कि वे पूर्ण हैं, और कुछ वे भी नहीं बतलाते।, दर्शन-शास्त्र भी

उसके रहस्य का विश्लेषण नहीं कर सकते। वेद भी नेति नेति कह कर छोड़ देता है। इसीलिए पुनरुक्ति की परवाह न कर मैं तो राम राम कहता रहता हूँ। उनके रूप से अणिमा की सिद्धि होती है, गुण से गरिमा की, भक्ति से महिमा की और नाम से तो मुक्ति ही मिल जाती है।

जो हौं कहौं रहिये तो प्रभुता प्रगट होति
चलन कहौं तो हित हानि नाहिं सहनो।
भावै सो करहु तो उदास भाव प्राणनाथ,
साथ लै चलहु कैसे लोक लाज बहनो।
केशोराय की सौं तुम सुनहु छबीले लाल,
चले ही बनत जो पै नाहीं राज रहनो।
तैसिये सिखाओ सीख तुमही सुजान पिय
तुमहिं चलत मोहि जैसो कछू कहनो।

अर्थात् तुम तो विदा माँग रहे हो पर मैं तुम्हें कहूँ क्या। 'रह जाइए' कहूँ तो तुम पर मेरी प्रभुता प्रकट होती है। 'चले जाइए' कहूँ तो मेरे हित की हानि हो रही है, जो असह्य है। यह कहूँ कि आप जैसा चाहें करें तो उससे उदासीनता प्रकट होती है। 'साथ ले चलो' कहूँ तो उससे लोक-लज्जा नष्ट होगी। तुम्हें तो यहाँ रहना नहीं, जाने से ही प्रयोजन है। अब तुम्हीं बताओ, तुम्हारे जाते समय मैं तुम्हें क्या कहूँ।

भूषण सकल घनसार ही के घनश्याम
कुसुम कलित केस रही छवि छाई सी।
मोतिन की लरी सिर कंठ माल हार
वाही रूप ज्योति जात हेरन हिराई सी।
चन्दन चढ़ाये चारु सुन्दर सरीर सब
राखी सुभ सोभा सब बसन बनाई सी।

शारदा सी देखिये देखो जाय केशोदास
ठाढ़ी वह कुंवरि जुन्हाई में अन्हाई सी।

कपूर के तो अभूषण हैं, केशों पर सफेद पुष्पों की शोभा है, सिर पर मुक्तालर और कंठ पर कंठा और हार ये सब उसके रूप की ज्योति में लुप्त हो गये हैं। स्वयं उसने सारे शरीर पर चन्दन का लेप कर लिया है। जाकर देखो तो सही, वह चांदनी में स्नान किये हुए के समान शारदा की तरह खड़ी है।

सिखै हारी सखी डरपाय हारी कादंबनी
दामिनि दिखाय हारी दिसि अधरात की।
झुकि झुकि हारी रति मारि मारि हार्‌यो मार
हारी झकझोरति त्रिविध गति वात की।
दई निरदई दई वाहि ऐसी काहे मति
जारति जु ऐन रैन दाह ऐसे गात को।
कैसे हू न मानै हो मनाइ हारी केशोराय
बोलिहारी कोकिला बोलाय हारी चातकी।

अर्थात् किसी से कुछ न हुआ। सखी सिखा न सकी, मेघ डरा न सका, विद्युत भी चमक चमक रह गई। रति और कामदेव से भी कुछ न हुआ। शीतल, मन्द सुगन्ध वायु का बहना भी व्यर्थ हुआ। कोकिला और चातकी की कण्ठ-ध्वनि निष्फल हुई। पर वह नहीं मानती। उसको ऐसी बुद्धि निर्दयी ब्रह्मा ने ही कर दी। तब वह मान छोड़ेगी क्यों।

खजन है मनरंजन केशव
रंजन नैन किधौं मति जी की।
मंडी सुधा कि सुधाधर की
दुति दंतन की किधौं दाड़िम ही की।

शारदा सी देखियत देखो जाय केशोदास
ठाढी वह कुंवरि जुन्हाई में अन्हाई सी।

कपूर के तो अभूषण हैं, केशों पर सफेद पुष्पों की शोभा है. सिर पर मुक्तालर और कंठ पर कंठा और हार ये सब उसके रूप की ज्योति में लुप्त हो गये हैं। स्वयँ उसने सारे शरीर पर चन्दन का लेप कर लिया है। जाकर देखो तो सही, वह चांदनी में स्नान किये हुए के समान शारदा की तरह खड़ी है।

सिखै हारी सखी डरपाय हारी कादंबनी
दामिनि दिखाय हारी दिसि अधरात की।
झुकि झुकि हारी रति मारि मारि हार्‌यो मार
हारी झकझोरति त्रिविध गति वात की।
दई निरदई दई वाहि ऐसी काहे मति
जारति जु ऐन रैन दाह ऐसे गात की।
कैसे हू न मानै हो मनाइ हारी केशोराय
बोलिहारी कोकिला बोलाय हारी चातकी।

अर्थात् किसी से कुछ न हुआ। सखी सिखा न सकी, मेघ डरा न सका, विद्युत भी चमक चमक रह गई। रति और कामदेव से भी कुछ न हुआ। शीतल, मन्द सुगन्ध वायु का बहना भी व्यर्थ हुआ। कोकिला और चातकी की कण्ठ-ध्वनि निष्फल हुई। पर वह नहीं मानती। उसका ऐसी बुद्धि निर्दयी ब्रह्मा ने ही कर दी। तब वह मान छोड़ेगी क्यों।

खजन है मनरजन केशव
रजन नैन किधौं मति जीकी।
मीठी सुधा कि सुधाधर की
दुति दतन को किधौं दाडिम ही की।

पड़ेगा। फिर मालती से हिल-मिल कर जब वह आवेगा तब उसमें तुम्हारे मुख-श्वास की सी सुगन्धि रहेगी।

नारी-सौन्दर्य का वर्णन करने में केशवदास जी की यह विशेषता है कि वे शारीरिक सौन्दर्य को मूर्तिमान करने की कोशिश कभी नहीं करते। उन्हें सौंदर्य का चित्र खींच देना अभीष्ट नहीं है। चित्र बनाने में कवि की क्या कुशलता है। वे विलक्षण उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं के द्वारा हृदय में कल्पना से अधिगम्य सौन्दर्य की भावना उत्पन्न कर देना चाहते हैं। शारीरिक सौन्दर्य नहीं सौन्दर्य की भावना उनका लक्ष्य है।

> एकै कहैं अमल कमल मुख सीता जू को
> एकै कहैं चन्द्र सम आनन्द को कंद री।
> होय जो कमल तो रयनि में न सकुचै री
> चन्द जो तो बासर न होय दुति मंद री।
> बासर हीं कमल, रजनि ही में चन्द, मुख
> बासर हू रजनि विराजै जगवन्द री।
> देखे मुख भावै अन देखे ई कमल चन्द,
> ताते मुख मुखै सखि कमलै न चन्द री।

अर्थात् सीता जी का मुख न तो कमल है और न चन्द्रमा। कमल रात में शोभा हीन हो जाता है और चन्द्रमा दिन में क्षीणद्युति हो जाता है। परन्तु सीता जी का मुख तो क्या दिन और रात सभी समय दर्शनीय है।

> वासों मृग अंक कहैं तोसों मृग नैनी सबै
> वह सुधाधर तुहू सुधाधर मानिये।
> वह द्विज राज तेरे द्विजराजी राजै वह
> कला निधि तुहू कला-कलित बखानिये।

रत्नाकर के हैं दोऊ देखत प्रकास कर,
अम्बर निवास सुखदाय हितु जानिये।
ताके अति सीतकर दुहूँ सोभा सीकर
चन्द्रमा सी चन्द्रमुखी सब जग जानिये।

चन्द्रमा के समान हो तो वह चन्द्र-मुखी है। चन्द्रमा मृगाङ्क है तो वह मृग-नयनी है। वह द्विज राज है तो वह भी द्विजों की, दाँतों की शोभा है। वह कला-निधि है तो वह भी कला से युक्त है। उसकी किरणें शीतल हैं तो इसके हाथ शीतल हैं।

सुनि सुखद सुखद मिलि भीखियत रति सिखई सुख साख में।
यर विरहिन वधत विशेष करि काम विशिप वैसाख में।

अर्थात् आकाश और पृथ्वी सुगन्ध से परिपूर्ण हैं। मकरन्द के कारण पवन की मन्द गति है। सर्वत्र शोभा है, सर्वत्र पराग है। गन्ध के ही कारण भौंरे और विदेश में रहने वाले अन्धे हो जाते हैं। वियोगिनियों को वैसाख में ही काम के वाण अधिक कष्ट देते हैं।

एक भूत मय होत भूत भजि पचभूत भ्रम।
अनिल अबु, आकाश अवनि ह्वै जाति आगि सम।
पथ थकित मद मुकित सुखित सर सिंधुर जोवत।
का कोदर कर कोप उदर तर केहरि सोवत।
प्रिय प्रवलजीव यहि विधि अबल सकल विकल जल थल रहत।
तजि केशवदास उदास मति जेठ मास जेठे कहत।

अर्थात् जगत पञ्चभूतात्मक है, यह भ्रम जेठ में ही दूर होता है। क्योंकि उस समय क्या पवन, क्या पानी, क्या आकाश और क्या पृथ्वी सभी अग्नि ही हो जाते हैं। तालाव का सुख देख कर हाथी अपना मद छोड़ देता है। रास्ता वन्द हो जाता है। उसके कर कोप अर्थात् सूंड की कुण्डली में सर्प और पेट के नीचे सिंह सोते है। ऐसे प्रवल जीव भी निर्वल हो जाते हैं। जल और स्थल के सभी प्राणी व्याकुल रहते हैं। इसीलिए श्रेष्ठों का कथन है कि जेठ में जाने की मति छोड देनी चाहिये।

पवन चक्र परचंड चलत चहु ओर चपल गति।
भवन भामिनी तजत भँवति मानहु तिनकी मति।
सँन्यासी यहि मास होत इक आसन वासी।
मनुजन की को कहै भये पक्षियो निवासी।

यहि समय सेज सोवत लियो श्रीहि साथ श्रीनाथ हू ।
कहि केशवदास अषाढ चल मैं न सुन्यौ श्रुति गाथ हू ।

अर्थात् चारों ओर चपल गति से प्रचंड पवन का चक्र यों घूम रहा है कि मानो घरों में जिन्होंने अपनी स्त्रियों को छोड़ दिया है उनकी बुद्धि ही चक्कर लगा रही है। इस महीने में सन्यासी भी एक ही स्थान में रहते हैं। मनुष्यों की कौन कहे, पक्षी भी एक ही स्थान में निवास करते हैं। भगवान् विष्णु भी लक्ष्मी के साथ शय्या पर सोते हैं। आषाढ में जाना तो मैंने वेदों में भी नहीं सुना।

केशव सरिता सकल मिलत सागर मन मोहैं ।
ललित लता लपटात तरुन तन तरवर सोहैं ।
रुचि चपला मिलि मेघ चपल चमकत चहुँ ओरन ।
मन भावन कहँ भेटि भूमि कूजत मिस मोरन ।
यहि रीति रमन रमनी सकल लागे रमन रमावनै ।
पिय गमन करन की को कहै गमन सुनिय नहिं सावनै

जाग उठे हैं और सभी स्त्री पुरुषों में नव-चैतन्य भाव जागृत हो गया है। स्नान, दान और भगवान् के यशोगान से अब जन्म सफल कीजिए।

मासन में हरि अंश कहत यासों सब कोऊ।
स्वारथ परमारथ दु देत मारग नहिं दोऊ।
केशव सरिता सरनि फूल फूले सुगन्ध गुर।
कूजत कल कलहंस कलित कलहंसनि को सुर।
दिन परम नरम शीत न गरम करम करम यह पाय ऋतु।
करि प्राननाथ परदेस कहँ मारगसिर मारग न चितु।

अर्थात् मासों में मार्गशीर्ष ही ईश्वर का अंश कहा गया है। इस मास में स्वार्थ और परमार्थ दोनों सिद्ध होते हैं। नदियों और तालाबों के किनारे फूल खिले हुए हैं। कल-हंस और कल-हंसिनी मधुर स्वर से कूज रही हैं। दिन न उष्ण है और न शीत। अच्छे कर्मों से यह ऋतु उपलब्ध होता है।

शीतल जल थल वसन असन शीतल अनरोचक।
केशवदास अकास अवनि शीतल असु मोचक।
तेल तूल तमोर तपन तापन नर नारि।
राज रंक सब छोड़ि करत इनहीं अधिकारी।
लघु दिवस दीह रजनी रमन होत दुसह दुख रूसनै।
यह मन क्रम वचन विचारि पिय पूस न कीजिय गवनै।

अर्थात् अब शीतल वस्त्र आदि अच्छे नहीं लगते। सभी तेल, रूई, पान, सूर्य और अग्नि को पसन्द करते हैं। दिन छोटा होता है और रात बड़ी। रूठने से असह्य दुःख होता है।

बन उपबन केकी कोकिल कोकिल कल बोलत।
केशव भूले भौर भरे बहु भ्रमत डोलत।
मृग मद मलय कपूर धूर धूपित दसो दिसि।
ताल मृदंग उपंग सुनत संगीत गीत निसि।
खेलत बसन्त संतत सुघर संत असन्त अनन्त गति।
घर नाह न छांडिय माह में जो मन माहि सनेह मति।

अर्थात् वन और उपवन में पक्षियों का मधुर कलरव हो रहा है। भ्रमर गुंजार कर रहे हैं, सर्वत्र सुगन्धि फैल रही है। रात में संगीत होता है। सभी लोग वसन्त में क्रीड़ा करते हैं।

लोक लाज तजि राज रंक निरसंक विराजत।
जोइ भावत सोइ कहत करत पुनि हाम न लाजत
घर घर युवती युवन जोर गहि गाहिन जाहिं।
बसन छीनि मुख मांडि आंजि लोचन तन ताहिं।
पटवास सुबास अकास उड़ि भुव मंडल सब मंडिए।
कह केशवदास विलासनिधि फागुन फागुन छांडिए।

अर्थात इस मास में तो सभी निशङ्क होकर वसन्तोत्सव में मग्न रहते हैं, जो मन में आता है कहते हैं और करते हैं। घर घर स्त्री-पुरुष एक दूसरे को जबरदस्ती पकड़ मुख पर काजल आदि लगाते हैं। चारों ओर गुलाल अबीर उड़ता है। ऐसे महीने में आप किस अपराध से मुझे छोड़ कर जायंगे।

जिस प्रवीण राय के लिए केशवदास जी ने कवि प्रिया की रचना की उसको भी एक सुन लीजिए—

सीतल समीर डार मलन के घनसार
अमल अगौछे आछे मन स सुधारिहौं।

देहौं ना पलक एक लागन पलक पर
मिलि अभिराम आठी तपनि उतारिहौं।
कहत प्रवीनराय आपनी न ठौर पाय
सुन वाम नैन या वचन प्रतिपारिहौं।
जबहीं मिलेंगे मोहिं इन्द्रजीत प्रान प्यारे
दाहिनो नयन मूंदि वाहि सौं निहारिहौं।

सैयद मुबारक अली बिलग्रामी की कितनी ही सरस उक्तियां हिन्दी में प्रसिद्ध हैं। उनका जन्म संवत् १६४० में हुआ था।

कनक वरन बाल नगन लसत भाल
मोतिन के माल उर सोहैं भली भांति है।
चन्दन चढ़ाई चारु चंदमुखी मोहिनी सो
प्रात ही अन्हाइ पगु धारे मुसकाति है।
चूनरी विचित्र स्याम सजि कै मुबारक जू
ढांकि नख सिख तें निपट सकुचाति है।
चन्द्र मैं लपेटि कै समेटि के नखत मानो
दिन को प्रणाम किये रात चली जाति है।

बिलग्रामी की तरह कितने ही मुसलमानों ने हिन्दी-साहित्य को अपना लिया था। पर हिन्दी-साहित्य के साथ हिन्दू-भाव को भी कुछ ने स्वीकार कर लिया था। ताज नामक एक स्त्री-कवि ने ता यहां तक कहा है—

सुनौ दिलजानी मेरे दिल की कहानी तुम
दस्त ही बिकानी बदनामी भी सहूंगी मैं।
देव-पूजा ठानी मैं नमाज हू भुलानी
तजे कलमा कुरान सारे गुनन गहूंगी मैं।

श्यामला सलौना सिर ताज सिर कुल्लेदार
तेरे नेह दाग में निदाघ ह्वै दहूंगी मैं।
नन्द के कुमार कुरबान ताणी सूरत पै
ताण नाल प्यारे हिन्दुवानी ह्वै रहूंगी मैं।

ऐसे भक्त-कवियों में रसखान की कवितायें विशेष प्रसिद्ध हैं। रसखान मुसलमान थे। परंतु उन्होंने वैष्णव-धर्म स्वीकार कर लिया। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने उन्हें वैष्णव-धर्म की दीक्षा दी। अपने सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—

देखि गदर हित साहिबी दिल्ली नगर मसान।
छिनहि बादसा बंस की ठसक छोडि रसखान।
प्रेम निकेतन श्री बनहि आय गोवर्धन धाम।
लह्यो सरन चित चाहि कै जुगल सरूप ललाम।
तोरि मानिनी तें हियो फारि मोहिनी मान।
प्रेम देव की छबिहि लखि भए मिया रसखान।

भक्त-कवियों और शृङ्गार-रस के आचार्यों में यही भेद है। बिहारी, मतिराम आदि कवियों ने भी श्रीकृष्ण जी को ही आदर्श मान कर शृंगार-रस में पूर्ण कवितायें लिखी हैं। परन्तु रसखान को उस प्रेम-देव का दर्शन हो चुका था, उस सौन्दर्य-निधान से उन्होंने साक्षात्कार कर लिया था जिसके आगे पार्थिव वैभव तुच्छ है। शृङ्गार-रस के कितने आचार्यों ने सांसारिक वैभव का परित्याग कर ऐहिक वासनाओं का दमन किया। भक्ति के आवेग में आकर कितनों ने वैभव की कामना छोड़ी है? रसखान के लिए प्रेम कैसा था—

इक अंगी बिनु कारनहि इक रस सदा समान।
गनै प्रियहिं सरबस्व जो सोई प्रेम प्रमान॥

प्रेम का यथार्थ लक्षण यही सर्वस्व-समर्पण, यही त्याग है। इस त्याग में कोई कामना नहीं रहती, कोई कारण नहीं रहता। रस खान का एक कवित्त लीजिये—

छूट्यो लोक लाज गृहकाज मन मोहनी को
मोहन को भूलि गयो मुरली बजाइबो।
अब रस खान दिन द्वै में बात फैलि जैहै
सजनी कहाँ लौं चन्द हाथन दुराइबो।
कालि ही कलिन्दी तीर चितये अचानक ही
दुहुन को ओर दोऊ मुरि मुसकाइबो।
दोऊ परैं पैयाँ दोऊ लेत हैं बलैय्याँ
इन्हें भूलि गई गैयाँ इन्हें गागर उठाइबो।

इस पद्य के साथ देव कवि के निम्नलिखित कवित्त की तुलना कीजिए—

रीझि रीझि रहसि रहसि हँसि हँसि उठै
साँसैं भरि आँसू भरि कहत दई दई।
चौंकि चौंकि चकि चकि उचकि उचकि देव
जकि जकि बकि बकि परत बई बई।
दुहुन को रूप गुन बरनत फिरैं
पल न थिरात रीति नेह की नई नई।
मोहि मोहि मोहन को मन भयो राधामय
राधा मन मोहि मोहि मोहन मई भई।

इन दोनों में प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन है पर रस खान के पद्य में प्रेम की जो तन्मयता है वह देव की रचना में नहीं है।

[illegible] की सीमा के [illegible] का देने से ही [illegible] विरोध होता है [illegible] में [illegible] का [illegible] है।

बावरी जो पै कलङ्क लग्यो तौ
निसङ्क ह्वै क्यों नहीं अङ्क लगावत ॥

जो लोग श्रीकृष्ण-चरित्र का रहस्य नहीं समझ सके हैं उनके लिए रसखान के ये प्रेमोद्गार भी हृद्गम्य नहीं हैं। भगवान् का लीला-धाम होने के कारण व्रज-भूमि पवित्र हो गई है। वह पुण्य-भूमि होगई है। वह प्रेम-निकेतन होगई है। व्रज-भूमि के पशु-पक्षी धन्य है। व्रज के लता-वृक्षों का जीवन सफल होगया है। व्रज के स्त्री-पुरुष महिमान्वित हो गये हैं। जिन्होंने भगवान का सांनिध्य प्राप्त कर लिया था, जिन्हें उनका साहचर्य सुलभ था, जिन्होंने उनका साक्षात्कार कर लिया था उनकी पुण्य-महिमा अतुल कैसे नही होगी। श्री कृष्ण महात्मा नहीं, देव नहीं, देवराज भी नहीं, साक्षात् सच्चि-दानन्दस्वरूप परब्रह्म हैं। उन्होने व्रज-भूमि मे प्रेम और भक्ति का मार्ग बतलाया है और व्रज छोड देने के बाद कर्म और ज्ञान की शिक्षा दी है। अतएव भक्तों के लिए उनकी व्रज लीला ही सर्वस्व है।

किन्तु भक्ति की भावना, चरित्र की दृढ़ता चाहिए। जिनमें विश्वास की दृढता है, संयम है, उन्हीं में सर्वस्व-समर्पण, आत्म-तल्लीनता के भाव उदित होते हैं। भारतीय-समाज की उस समय कुछ और ही स्थिति थी। मनुष्य मात्र का स्वभाव है कि जब उसकी क्रिया-शक्ति निर्बल हो जाती है तब उसकी भाव-शक्ति खूब प्रबल हो जाती है। बाल्य-काल में क्रिया-शक्ति क्षीण रहती है। उस समय बालकों के हृदय में कल्पनाओं और भावों की तरङ्गे उठा करती हैं। जब वृद्धा-वस्था आती है तब क्रिया-शक्ति निर्बल हो जाती है। उस समय भाव का फिर प्राधान्य हो जाता है। बाल्यावस्था में भाव

महाजान मनि विद्या दानहू ते चिंतामनि
हीरामनि दीक्षित ते पाई पंडिताई है।
सेना पति सोई सीता पति के प्रसाद जाकी
सब कवि कान दै सुनत कविताई है।

कवि की इस उक्ति में उसका आत्म-गर्व लक्षित होता है। इस गर्व से शक्ति सूचित होती है। यह मिथ्याभिमान नहीं है। जब किसी कवि ने कला को प्राप्त कर लिया है तब उसकी परीक्षा के लिए वह संसार का आह्वान क्यों न करे। श्रेष्ठ कवियों की विनयोक्तियों में भी उनका यही आत्मगर्व छिपा रहता है। सेनापति ने तो स्पष्ट कहा है—

मूढन को अगम सुगम एक ताको जाकी
तीछन निगम निधि बुद्धि है अथाह की।
कोई है अभंग कोई पद है सभंग
सोधि देखे सब अंग सम सुधा परवाह की।
ज्ञान के निधान छन्द कोष सावधान
जाको रसिक सुजान सब करत हैं गाहकी।
सेवक सियापति को सेनापति कवि सोई।
जाकी द्वै अरथ कविताई निरवाह की।'
दोष सों मलीन गुनहीन कविताई है
तो कीने उनवान परवीन कोई सुनि है।
बिनुहीं सिखाए सब सीखि है सुमति
जो पै सरस अनूप रस रूप या में धुनि है।
दूषन को करिकै कवित्त बिनु भूषन को
जो करे प्रसिद्ध ऐसो कौन सुरमुनि है।
राम अरचतु सेनापति चरचतु दोऊ
कवित रचतु याते पद चुनि चुनि है।

अर्थात् मेरी कविता मूर्ख के लिए दुर्गम है। जिनकी बुद्धि तीक्ष्ण है उन्हीं के लिए यह सुगम है। मैंने साहित्य-शास्त्र का मंथन कर; उसके सब अंगों को शोध कर कविताम्रत का प्रवाह बहाया है। जो रसज्ञ हैं वही मेरी कविता की चाह करेंगे। दूषित कविता किसी भी भाषा में हो उसका मान नहीं होसकता। मेरी कविता में रस है, व्यङ्ग है, अलङ्कार है। उसे सुविज्ञ जन स्वयं, बिना किसी के बतलाये ही, पढ़ेंगे। जो दूषित कविता है, जिसमें अलङ्कार भी नहीं है, उसकी प्रसिद्धि देव और मुनि भी नहीं कर सकते। मैंने तो चुन चुन कर एक एक पद लिखा है।

न जाने किस दुःख, किस व्यथा, किस संकट, किस मनोवेदना से पीड़ित होकर उन्होंने कहा है—

> महा मोह कन्दनि में जगत जकन्दनि में
> दिन दुख दुन्दनि में जात है बिहाय कै।
> सुख को न लेस है कलेस सब भाँतिन को
> [illegible] बहन अकुलाय कै।
> [illegible]
> [illegible]
> [illegible]
> [illegible]

[illegible]

फूलन सों बाल की बनाइ गुही बेनी लाल
भाल दीनी बेंदी मृगमद की असित है।
अङ्ग अङ्ग भूषन बनाइ ब्रजभूषन जू
बीरी निज कर तै खवाई अति हित है।
ह्वै के रस बस जब दीबे को महावर के
सेनापति स्याम गह्यो चरन ललित है।
चूमि हाथ नाथ के लगाइ रही आँखिन सों
कही प्रानपति यह अति अनुचित है।

हिन्दी-साहित्य के सभी कवियों ने प्रकृति के वर्णन में मानसिक भावों को ही प्रधानता दी है। उनकी रचनाओं में प्रकृति का यथार्थ चित्र कम मिलता है। हिन्दी के एक विद्वान् ने इसका कारण यह बतलाया है कि मनुष्य की श्रेष्ठता पर हमारे धर्मशास्त्रों ने इतना जोर दिया है कि उसके सामने प्रकृति दब सी जाती है। अतः प्रकृति के द्वारा नायिका और नायक के गुणों को उत्कृष्ट कर दिखाना तथा प्रकृतिवत् उनके मानसिक भावों का तारतम्य दिखलाना उन्हें इष्ट है। कुछ भी हो, इसमें तो सन्देह नहीं है कि प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ अन्तःकरण का गूढ़ सम्बन्ध है। जब प्रकृति से मनुष्य का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है तब प्रकृति के एक एक स्वर से उसकी हृत्तन्त्री बज उठती है। उधर सूर्योदय हुआ, कमल खिले और इधर मनुष्य का हृत्सरोज विकसित हुआ। पवन के स्पर्श से लतायें लहलहा उठीं और मनुष्य भी प्रफुल्लित हुआ। पशु-पक्षियों के आनन्दोत्सव में वह भी सम्मिलित होता है। अतएव यदि उसके हृदय में विषाद की छाया है तो प्रकृति के उत्सव में वह अपनी व्यथा का अनुभव कैसे नहीं करेगा। तुलसीदास जी ने तो श्रीरामचन्द्र जी की वियोग-व्यथा से पशु-पक्षी की कौन कहे वृक्षों और लताओं तक को

है। ठंडी छांह का आश्रय लेकर पथिक और पक्षी रुक जाते हैं। दोपहर ढल जाने पर भी उत्ताप इतना अधिक बढ़ जाता है कि ऐसा जान पड़ता है कि ठंडी हवा भी कहीं चुपचाप घड़ी भर रुक कर समय काटना चाहती है।

सेनापति उनये नये जलद सावन के
चारि हूँ दिसान घुमरत भरे तोइ के।
सोभा सरसाने न बखाने जात कहूँ भाति
आने हैं पहार मानों काजर के ढेइ के।
घन सो गगन छयो तिमिर सघन भयो
देखि न परत गयो मानो रवि खोइ के।
चारि मास भरि घोर निसा को भरम करि
मेरे जान याही ते रहत हरि सोइ के।

अर्थात् ये तो सावन के मेघ चारों दिशाओं से उमड़-घुमड कर आरहे हैं। ऐसा जान पड़ता है कि मानों ये काजल के पहाड ही ढोकर लारहे हैं। आकाश मेघों से ढक गया है। चारों ओर अंधेरा हो गया है। जान पड़ता है कि रवि ही कहीं खोगया है। भगवान् तो रात्रि के ही भ्रम से ये चार महीने सोते रहते हैं।

कातिक की राति थोरी थोरी सियराति
सेनापति को सुहाति सुखी जीवन के गन हैं।
फूले हैं कुमुद फूली मालती सघन बन
फूलि रहे तारे मानो मोती अनगन हैं।
उदित विमल चन्द चादनी छिटकि रही
राम कैसो जस अध ऊरध गगन है।
तिमिर हरन भयो सेत है बरन सब
मानहुँ जगत छीर सागर मगन है॥

कहा नहीं जा सकता कि उनके जीवन में फिर वसन्त आया या नहीं परन्तु उनके पद्यों से प्रगट होता है कि उन्हें संसार और सांसारिक वैभव से विरक्ति हो गई थी—

यह विरिया नहिं और की तू करिया वह सोधि।
पाहन नाव चढ़ाय जिनि कीन्हे पार पयोधि।

× × ×

मेरी भव बाधा हरो राधा नागरि सोय।
जातन की झांई परे स्याम हरित दुति होय।

अर्थात् वही राधा मेरी भव बाधा को दूर करें जिनके शरीर की परछांई पड़ने से श्याम की कांति हरी होजाती है।

सीस मुकुट कटि काछनी कर मुरली उरमाल।
यहि बानिक मो मन बसो सदा विहारी लाल।

सिर पर मुकुट, कमर में काछनी, हाथ में मुरली और हृदय पर माल; कृष्ण का यह रूप मेरे हृदय में निरन्तर बना रहे।

सघन कुञ्ज छाया सुखद सीतल मन्द समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै वा जमुना के तीर।।

सघन कुञ्ज है, सुखद छाया है, शीतल मन्द पवन है। ऐसा जान पडता है कि आज भी वहीं यमुना के तट पर है।

जहा जहा ठाढो लख्यो स्याम सुभग सिर मौर।
उनहू बिन छिन गहि रहत दृगनि अजहु वह ठौर।

जहां मैंने कृष्ण को देखा था वहां उनके न रहने पर भी वह स्थान नेत्रों को खींच ही लेता है।

मोहन ओढ़े पीत पट स्याम सलोने गात।
मनो नीलमणि सैल पर आतप पर्‌यो प्रभात।

श्याम शरीर पर पीताम्बर ओढे कृष्ण ऐसे शोभायमान हैं मानों नील गिरि पर प्रभात की स्वर्ण-कान्ति।

जाग कर देखती हूं तो कपाट में सांकल लगी ही हुई है। फिर वह किस रास्ते से आता जाता है।

नैना नेकु न मानहीं कितो कह्यौ समझाय।
तन मन हारे हू हँसैं तिनसों कहा बसाय।

ये नेत्र तो मानते ही नहीं, सब कुछ खोकर भी हंसते ही हैं।

लाज लगाम न मानहीं नैना मो बस नाहिं।
ये मुंहजोर तुरंग लौं ऐंचत हू चलि जाहिं।

ये नेत्र तो लाज-रूपी लगाम को मानते ही नहीं। मुंह-जोर घोड़े की तरह लगाम खींचने पर भी ये उधर, कृष्ण की ओर, चले ही जाते हैं।

इन दुखिया अंखियान को सुख सिरजोई नाहिं।
देखत बनै न देखते बिन देखे अकुलाहिं।

इन बेचारी आंखों के भाग्य में सुख ही नहीं है। जब देखने का अवसर रहता है तब तो देखते नहीं बनता और बिना देखे व्याकुल होती हैं।

मन मोहन सों मोह कर तू घनस्याम निहारि।
कुंजबिहारी सों बिहरि गिरिधारी उर धारि।

अरे मन, तू मोहन पर मुग्ध हो, घनश्याम को देख, कुंजविहारी से विहार कर, गिरधारी को हृदय में रख।

ब्रजबासिन को उचित धन जो धन रुचित न कोय।
सु चित न आयो सुचितई कहौ कहां ते होय।

वह श्याम शरीर जो ब्रज-वासियों का धन है चित्त में नहीं आया तो शान्ति होगी कहां से।

नीकी दई अनाकनी फीकी परी गुहारि।
तज्यो मनो तारन विरद वारक वारन तारि।

हमारी विनय व्यर्थ हुई। आपने तो अच्छा हाल किया। एक बार हाथी का उद्धार कर आपने अब तारना ही छोड़ दिया।

थोरेई गुन रीझते बिसराई वह बानि।
तुमहू कान्ह मनो भये आज काल्हि के दानि।

आपका वह स्वभाव नहीं रहा जब थोड़े ही गुण पर रीझ जाते थे। अब तो आप भी कलियुग के दानी होगये।

कब को टेरत दीन रट होत न स्याम सहाय।
तुमहू लागी जगतगुरु जगनायक जग बाय।

कबसे पुकार रहा हूं तो भी तुम सहायता नहीं करते। तुम्हें भी क्या इस दुनिया की हवा लग गई है।

[illegible]

[illegible]

करो कुमत जग कुटिलता तजौं न दीन दयाल।
दुखी होहुगे सरल चित बसत त्रिभंगीलाल।

मैं तो अपनी टेढ़ी चाल नहीं छोड़ूंगा। भला सीधे चित्त में रह कर त्रिभंगीलाल जी कष्ट न पावेंगे।

मोहि तुम्हें बाढ़ी बहस को जीते जदुराज।
अपने अपने विरद की दुहुन निबाहन लाज।

अब तो मुझ में और तुममें विवाद बढ़ गया है। देखें कौन जीतता है। मैं पापी हूं, पाप करता ही जाऊंगा और आप पतित-पावन हैं, आप पापों को दूर करेंगे।

निज करनी सकुचेहि कत सकुचावत इहि चाल।
मोहू से नित विमुख त्यौं सनमुख रहि गोपाल।

मैं अपने कुकृत्यों से योंही लज्जित हूं और आपका यह व्यवहार मुझे और भी लज्जित कर रहा है। मेरे समान विमुख के सम्मुख आप होते हैं।

हो अनेक अवगुन भरी चाहे याहि बलाय।
जो पति सम्पति हू बिना जदुपति राखे जाय।

जब बिना सम्पत्ति के ही कृष्ण मेरी प्रतिष्ठा रख रहे हैं तब यह दोषों से भरी सम्पत्ति नष्ट हो हो।

हरि कीजत तुमसों यहै विनती बार हजार।
जेहि तेहि भांति डरो रहौं परो रहौं दरबार।

हे नाथ मैं तो तुमसे बारम्बार यही प्रार्थना करता हूँ। किसी भी तरह हो मुझे आप अपने आश्रय में ही पड़े रहने दीजिए।
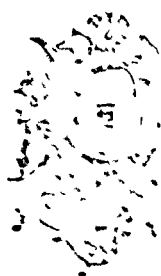
जना प्रदर्शित नहीं की जैसी सिक्खों अथवा मरहठों ने। मरहठों के प्रति उनकी सहानुभूति भले ही रही हो, पर वह सहानुभूति क्रिया-हीन थी। चतुर मरहठों ने अपने राज्य-विस्तार के लिए उस सहानुभूति से पूरा लाभ उठाया। उन्होंने हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों पर अधिकार भी कर लिया। कुछ काल के लिए तो सर्वत्र महाराष्ट्र का ही आधिपत्य स्थापित हो गया। तो भी देश की अवस्था में परिवर्तन न हुआ। इसी प्रकार पञ्जाब में सिक्खों का अधिकार हो जाने पर भी वहां हिन्दू-जाति में जाग्रति का कोई लक्षण नहीं दिखाई दिया। सच तो यह है कि मरहठे, सिक्ख अथवा राजपूत मुगलों के विरुद्ध खड़े तो हुए पर उनमें केवल प्रान्तीयता या साम्प्रदायिकता का ही भाव काम कर रहा था। मुगलों के विरुद्ध जो युद्ध हुआ वह स्वाधीनता के लिए जनता का युद्ध नहीं था, परन्तु अपनी अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों का ही युद्ध था। जिनमें जितनी प्रतिभा थी, जितनी शक्ति थी, उन्होंने उतनी ही सफलता प्राप्त की। भूषण भले ही इस संशय में पड़े रहे कि वे साहू की प्रशंसा करें या छत्रसाल की पर सच पूछो तो हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों में न तो कहीं स्वाधीनता का भाव जाग्रत हुआ और न कहीं कर्मण्यता का चिन्ह प्रकट हुआ। छत्रसाल के बाद बुन्देलखण्ड में भी मरहठा का राज्य स्थापित होगया। तुकाराम, नामदेव आदि दक्षिण के सन्तों ने महाराष्ट्र जाति को धर्म के बन्धन से दृढ़ कर प्रबल बना दिया था पर मध्ययुग के प्रारम्भ में उत्तर-भारत में जिन धार्मिक भावों ने एक नवीन शक्ति उत्पन्न कर दी थी वे बिलकुल शिथिल हो गए थे। यही नहीं, उनके कारण वहां अधिक धार्मिक सङ्कीर्णता, अधिक साम्प्रदायिकता आगई थी। तुलसीदास

और सूरदास ने उन्हें धर्म के पथ तो दिखलाये, पर कर्म का पथ दिखलाने वाला कोई भी कवि नहीं हुआ। यही कारण है कि महाराष्ट्र-प्रान्त में तो साहित्य ने नवश्री प्राप्त की, परन्तु हिन्दी-साहित्य में कहीं भी नवीनता नहीं आई। भूषण की रचनायें साहित्य-शास्त्र की ही रचनायें हैं। उन्होंने शिवाजी और छत्रसाल की जैसी प्रशंसा की है वैसी प्रशंसा करना उस काल के सभी कवि अपना कर्तव्य समझते थे। गंग ने खानखानाकी प्रशंसा में लिखा है—

> गाजे भाजे राउ छाड़ि रन छोड़ि रजपूत
> रौतो छोड़ि राउत रनाई छोड़ि राना जू।
> कहै कवि गंग इल समुद के चहू कूल
> कियो न करै कबूल निद खानखाना जू।
> पच्छिम पुरतगाल कास्मीर पयताल
> खक्खर का देस दाब्यो नक्कर भगाना जू।
> रूम, साम लोम सोम, बलक बदाकसान
> फेर फेर खुरासान सबके खानखाना जू।
> [illegible]
> [illegible]
> [illegible]
> [illegible]
> [illegible]
> [illegible]
> [illegible]
> [illegible]

भूषण ने [illegible] का अनुकरण किया [illegible] कहा जाता है कि भूषण का नाम कुछ [illegible] था। [illegible]

हैं। बेगमें पायजामा को, रानियां नीवी को पकड़े चली जा रही हैं।

चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठै बार बार
दिल्ली दहसति चितै चाह करषति है।
बिलखो बदन बिलखात बिजैपुर पति
फिरत फिरंगनि की नारी फरकति है।
थर थर कांपत कुतुब साह गोलकुंडा
हहरि हबस भूप भीर भरकति है।
राजा सिवराज के नगारन की धाक सुनि
केते पातसाहन की छाती दरकति है।

अर्थात् शिवाजी के नगाड़ों की आवाज सुनकर औरंगज़ेब बार बार चौंक पड़ता है। दिल्ली वाले डर रहे हैं। बीजापुर का नरेश तो विलाप कर रहा है और अगरेजों की नाडी फड़क रही है। गोलकुंडा का कुतुब शाह तो थर थर कांप रहा है। और हबशी राजा भी भागरहा है। सभी बादशाहों के कलेजे फटे जारहे हैं।

डाटी के रखैयन की डाटी सी रहत छाती
बाढि मरजाद जस हद्द हिन्दुवाने की।
कढि गई रैयत के मन की कसक सब
मिटि गई ठसक तमाम तुरकाने की।
भूषन भनत दिल्लीपति दिल धकधका
सुनि सुनि धाक सिवराज मरदाने की।
मोटी भई चंडी बिनु चोटी के चबाय मुंड
खोटी भई संपति चकत्ता के घराने की।

अर्थात् मुसलमानों का हृदय जल रहा है। भारत

की मर्यादा बढ़ गई है। हिन्दू-प्रजा के हृदय की धड़कन कम हो गई है। मुसलमानों का गर्व नष्ट हो गया है। [illegible] हृदय काँप रहा है। भूपालों की सम्पत्ति [illegible] है।

किसी उदात्त विषय को चुनता है उस को यह भी मालूम रह-ता है कि वह कौनसी चीज है जो उसको महत् बनाये हुए है। तब वह उसके वीर-भाव और उदात्त-वृत्तियों को यथार्थ रूप से अङ्कित करता है। इसके विपरीत भूषण केवल शब्दों की छटा, कृत्रिम भावों की योजना और अलङ्कारों के विन्यास में ही लगे रहे हैं। सच्ची बात यह है कि उनकी कविता में सर्वत्र मानसिक -क्षोभ है, अनुभूति है नहीं।

उक्ति-वैचित्र्य और अलङ्कारों के चमत्कार में भूषण भले ही श्रेष्ठ कवि हों पर विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से लाल कवि का ही आसन उनसे ऊंचा रहेगा। सच पूछा जाय तो वीर-रस का काव्य एक-मात्र छत्र-प्रकाश ही कहा जा सकता है। उनकी यह रचना सभी प्रकार से प्रशंसनीय है—उनकी प्रशंसोक्तियों में कहीं भी अनौचित्य नहीं है। स्पष्टता, स्वाभाविकता और सत्यता, ये उनके प्रधान गुण हैं। उसका प्रारम्भिक भाग कितना अच्छा है—

एक रदन सिंधुर बदन दुरबुधि-तिमिर दिनेश।
लम्बोदर असरन सरन जै जै सिद्धि गनेश।
सिद्धि गनेश बुद्धि बर पाऊं।
कर जुग जोरि तोहि सिर नाऊं।
तू सब के सब अंगन रहै।
अधिक अनेकन बिघन बिहडै।
प्रथम धरै सुर नर मुनि पूजा।
और कौन गनराजि सम दूजा।
गौरीनंदन बंदक गुन गावै।
मूसक वाहन मोदक भावै।
सब गुन सिंदूर धारै।

हरि रत्नाकर मथि निकारे।
अमृत लिये हरद को मारे।
निकट कंटक संकट के कारे।

कारे संकट के कटक ज्ञान तिहारो नाम।
मोहि भरोसो है सदा है बानी गननाग।

जै जै जै आनन्दित बानी।
तुही सत्य चैतन्य बखानी।
तुही आदि ब्रह्म की रानी।
वेद पुरानमयी तू जानी।

तू विद्या तू बुद्धि है तुही अविद्या नाम।
तू बाँधै सब जगत को तू छोरै परिनाम।

तेरी कृपा लाल जो पावे।
तौ करि रीति बुद्धि विलमावे।
कविता रीति कठिन है भाई।
गाढ़ित समुद पैर नहिं जाई।
बड़ो सब बरनो जा चाहौं।
कैस सुमति सिन्धु अवगाहौं।
चहूँ ओर चञ्चल चितु धावै।
विमल बुद्धि ठहरान न पावै।
बाधा विषै सिंधुकी डोरे।
फिरि फिरि लोभ लहर मे बोरे।
जो उर विमल बुद्धि ठहराई।
तौ आनन्द सिंधु लहराई।
उठो अनन्द सिंधु की लहरें।
जस मुकता ऊपर है ठहरें।
छहरि छहरि छिति मण्डल छायो।

ताके पुन्य चारिफल लागे।
खरग राइ अरु चन्द सभागे।
सुभट सुजान राइ सुखदाई।
सब को चम्पत राइ महाई।
चारिउ भैया उदभट मानौ।
चारिउ भुजा विष्णु की मानौ।
चारिउ चरण पुन्य छवि छायौ।
चारिउ फलन देन जनु आयौ।
हिन्दुवान सुरगज उर आनौं।
ताके चार्‌यौ दन्त बखानौं।
चारौं अग चमू जिन राखी।
चारौं समुद जीति अभिलाषी।
अन्तःकरन चारि हुलसाये।
चारिउ चक्र सुजस बगराये।
हरि के आयुध चारि गनाये।
ते जनु छिति रच्छन को आये।

यद्यपि आयुध विष्णु के चार्‌यो छवि उद्दाम।
पै दानव दल दलन कौं गदा चक्र सौं काम॥

जदपि गदा को बड़ी बड़ाई।
पै कछु और चक्र की धाई।
गदा समान सुजान बखानौ।
चम्पतिराय चक्र उर आनौ।
गनै कौन चम्पति की जीतैं।
गनपति गनै तऊ जुग बीतैं।
साहिजहाँ उमड्यो घन घोरा।
चम्पति झंझा पवन झकोरा।

विक्रम में विक्रम करम सुत धरम में
पुन्यकार धीर में धनेस वारौं धन में ।
मतिराम कहत मिलत प्रताप में
प्रबल बल पृथु पारथहि वारौं पन में ।
शत्रुसाल नन्द रैया राव भावसिंह आजु
मही के महीप सब वारौं तेरे तन में ।
नल वारौं नैननि में बलि वारौं बैननि में
भीम वारौं भुजन में ऊरन करन में ॥

गुंछनि के अवतंस लसै
सिखिपच्छनि अच्छ किरीट बनायो ।
पल्लव लाल समेत छरी कर—
पल्लव में मतिराम सुहायो ।
गुञ्जनि के उर मंजुल हार निकुञ्जनि
ते कढ़ि बाहिर आयो ।
आज को रूप लखे ब्रजराज को
आजहि आंखिन को फल पायो ।

अर्थात् कान में फूलों के गुच्छे, सिर पर मयूर-पुच्छ का किरीट, हाथ में फूलों की छड़ी, हृदय पर हार, ऐसे ब्रजराज को निकुंज से बाहर निकलते हुए जिसने आज देख लिया उसने नेत्र का फल पालिया ।

कुन्दन को रंग फीको लगै
झलकै असि अंगनि चारु गोराई ।
आंखिन में अलसानि चितौनि में
मंजु विलासन की सरसाई ।
कोटिन मोल बिकात नहीं
मतिराम लहै मुसुकान मिठाई ।

भावनायें विद्यमान हैं। परन्तु उन भावनाओं में सत्य का जो चिरन्तन रूप हमें आज प्राप्त हो रहा है वह वाल्मीकि और व्यास की ही अनुभूति की साधना का फल है। वह उनकी सृष्टि है। उसी में उनकी मौलिकता है। जो साहित्य किसी युग-विशेष की प्रतिच्छाया-मात्र है, तत्कालीन भावनाओं की प्रतिध्वनि मात्र है, वह सरस्वती के सदन में सर्वोच्च स्थान प्राप्त नहीं कर सकता। जो कवि अपने देश और काल में ही लीन हो जाता है उसकी कृति में वह चिर-नवीनता नहीं रहती जिसके कारण कवि की कीर्ति अक्षय बनी रहती है। कवि की कर्तृत्व-शक्ति तभी प्रकट होती है जब वह अपनी साधना और अनुभूति के बल से देश के चिन्ता-स्रोत में सत्य और सौन्दर्य का चिरन्तन रूप देख लेता है, जो चिर-पुरातन होने पर भी चिर-नवीन बना रहता है। हिन्दी-साहित्य में कबीर, तुलसीदास, सूरदास, जायसी आदि जितने कवीश्वर हुए हैं सभी की कृति में तत्कालीन युग की भावना विद्यमान है, परन्तु वही उनका सर्वस्व नहीं है। उनकी कृति में तत्कालीन धार्मिक-भावना का प्रतिबिम्ब-मात्र नहीं है। उसमें अक्षय सौन्दर्य और सत्य की निधि है जिसको उन्होंने अपनी साधना से उपलब्ध किया था। परन्तु ऐसे महाकवि अपने कला-कौशल से ही नहीं, अपनी साधना से भी साहित्य में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करते हैं। किन्तु जो कवि अपने कला-कौशल से ही साहित्य में स्थान प्राप्त करते हैं वे अनादर या उपेक्षणीय नहीं हैं। यह सच है कि उनके सम्बन्ध में हमारे हृदय में भक्ति और श्रद्धा का उद्रेक नहीं होता। तो भी साहित्य में उनका स्थान निर्दिष्ट है। वे उस स्थान से हटाये नहीं जा सकते। हम कविता उन्हीं की कला की परीक्षा करते हैं। हिन्दी में सूरदास

और तुलसीदास के सम्बन्ध में किसी को सन्देह नहीं है। सन्देह है रसखान और देव या अन्य ऐसे ही कवियों के सम्बन्ध में। उनका विशेषत्व है किसमें, जो अन्य कवियों में नहीं है? नीचे हम कुछ कवियों की रचनाएं उद्धृत करते हैं—

किधौं मुख कमल पै कमला की ज्योति होति
किधौं चारु मुखचन्द चन्द्रिका चुराई है।
किधौं मृग लोचनि मरीचिका मरीचि कैधौं
रूप की रुचिर रुचि सुचि सों दुराई है।
सौरभ की सोभा की दसन घन दामिनी की
केसव चतुर चित ही की चतुराई है।
ऐसी गोरी भोरी तेरी थोरी थोरी हाँसी
मेरी मोहन की मोहनी की गिरा की गुराई है॥

अथवा

करि को चुराई चाल सिंह को चुरायो लंक
ससि को चुरायो मुख नासा चोरी कीर की।
पिक को चुरायो बैन मृग को चुरायो नैन
दसन अनार हाँसी बीजुरी गम्भीर की।
कहै कवि बेनी बेनी ब्याल की चुराइ लीनी
रती रती शोभा सब रति के शरीर की।
अब तो कन्हैया जू को चितहू चुराइ लीन्हो
चोरटी है गोरटी या छोरटी अहीर की।

अथवा

मेरे नयन अजन तिहारे अधरन पर
शोभा देखि गुमर बढ़ायो सब सखिया।
मेरे अधरन पै ललाई पीक लाल तैसे
रावरी कपोल गोल चोखी लीक लखिया।

ही [illegible] । कविता ने आकृति-[illegible] और आकृति-[illegible] का ही [illegible] किया है परन्तु [illegible] उनका आकृति [illegible] पूर्ण नहीं था। [illegible] की दृष्टि से विचार किया गया।

साहित्य-कलाओं में यह कवित्व ही आत्मा है, भाषा और छन्द उसके अवयव हैं और अलङ्कार उसके भूषण। कला का मूल सौन्दर्य है। वह सौन्दर्य किसी एक स्थान में एकत्र नहीं है। कवि सर्वत्र उसका अनुभव करता है, बाह्य-जगत् में और अन्तर्जगत् में। उसकी यह अनुभूति भिन्न भिन्न रूपों में व्यक्त होती है। बाह्य-जगत् में कभी वह प्रकृति का विराट् रूप देखकर विस्मय-विमुग्ध होता है और कभी उसकी महाविनाशी-शक्ति का अनुभव कर उस पर आतंक छा जाता है। कभी वह उसकी मधुरिमा में निमग्न होकर प्रेम का रसास्वादन करता है और कभी उसकी अस्थिरता का अनुभव कर वह सहानुभूति प्रकट करता है। मनुष्य के अन्तर्जगत् में भी वह सौन्दर्य की भिन्न भिन्न अवस्थायें देखता है। मनुष्य केवल शरीर नहीं है और न मन ही है। आत्मा की अभिव्यक्ति में ही उसकी सत्ता की परम सीमा है। पर शारीरिक और मानसिक अवस्थाओं के द्वारा ही उसके यथार्थ रूप का विकास होता है। जिन अवस्थाओं का अतिक्रमण करने से आत्मिक-विकास होता है वे सभी कला के उपकरण हैं। दैनिक-जीवन में मनुष्य का प्रति-क्षण जो उत्थान-पतन होता रहता है वह कला के लिए उपेक्षणीय नहीं है। आशा-निराशा, सुख-दुख, संयोग-वियोग आदि भावों के उत्थान-पतन से कभी शृंगार-रस, कभी करुण-रस और कभी शान्त-रस का प्रादुर्भाव होता

भयो छितिपात ऐसो सुनिए अघात मानो
कैंधो प्रलै करिबे को ब्रज तररानो है।
जनसो मुरारि भनै राम तान तोरो चाप
चाप चररानो कै अकाश अररानो है।
दौर दण्ड परसै दमक दामिनी सों उठो
कठिन कठोर जोर सोर सहरानो है।
जोरत प्रतचा चाप टोरत न ताको कोऊ
चारों ओर प्रलै घन घोर घहरानो है।
खण्ड खण्ड डरो देखि परो महिमण्डल में
अवध विहारी सर्ण भान भर रानो है।
झंझा झररानो महानाद नररानो
शंभु चाप चररानो कै अकास अररानो है।

उपर्युक्त पद्यों में कवि ने शम्भुधनु के भंग होने का दृश्य अङ्कित किया है। यदि पाठकों को शम्भुधनु की कठोरता पर विश्वास न हो और भगवान रामचन्द्र के ईश्वरत्व पर सन्देह हो तो इन पद्यो मे, शब्दों की योजना में विशेषता होने पर भी, कवि उनके हृदय में अवस्थानुकूल भाव पैदा नहीं कर सकते।

कल न परति कहू ऊधो इन गैयन को
कबधौ ललन धौरी धूमरी पुकारि हैं।
पूरिहै श्रवण कब सुधा निज बैननि सों
कब वह छवि हम नैननि निहारि है।
बूडिबो चहत ब्रज राधा दृगधारनते
कब धौ धराधर करन पर धारि है।
मारिहै अघासुर विदारिहैं बका को कब
वेणु को बजाय कुञ्जवन में विहारिहैं।

ऐसे कवि हैं जिन्हों ने प्रेम का ही एक मात्र वर्णन किया है। उन्हें यथेष्ट सफलता हुई है। उन्होंने उन्हीं विषयों का निर्वाचन किया है जिन से उनको हार्दिक सहानुभूति थी—

पर कारज देह को धारे फिरौ
पर जन्य जथारथ है दरसौ।
निधि नीर सुधा के समान करौ
सबही विधि सज्जनता सरसौ।
घनआनंद जीवन दायक हौ
कछु मेरियो पीर हिये परसौ।
कबहू वा बिसासी सुजान के आँगन
मो असुवान को लै बरसौ॥
पहले अपनाय सुजान सनेह सों
क्यों फिर नेह को तोरियै जू।
निरधार अधार दै धार मझार
दई गहि बाह न बोरियै जू।
घन आनँद आपने चातक को
गुन बाधि कै मोह न छोरियै जू।
रस प्याय कै ज्याय बढ़ाय कै आस
विसास मै यों विष घोरियै जू॥
हम सौं हित कै कित कौं नित ही
चित बीच वियोगहि पोइ चलै।
सु अखैवट बीज लौं फैलि पर्‌यो
वनमाली कहाँ धौं समोइ चले।
घन आनँद छाह वितान तन्यो—
हमें ताप के आतप खोइ चले।
कबहू तेहि मूल तौ बैठिए आइ
सुजान जो बीजहि बोइ चले॥

निम्नलिखित पद्य में ठाकुर ने पुरुषत्व की जो पहचान बतलाई है वह ठीक उनके युग के अनुकूल है—

बैर प्रीति करिवे की मन में न राखे संक
राजा राव देखि कै न छाती धकधाकरी।
अपनी उमंग की निबाहिवे की चाह जिन्हें
एक सों दिखात तिन्हें बाव और बाकरी।
ठाकुर कहत मैं विचार कै विचार देखो
यहै मरदानन की टेक बात आकरी।
गही तौन गही जौन छोड़ी तौन छोड़ दई
करी तौन करी बात ना करी सो ना करी।

ठाकुर कवि ने कृष्ण का जो रूप अपने हृदय में कल्पित कर रक्खा था वह तत्कालीन सभी कवियों का आदर्श था।

ग्वारन को यार है सिंगार सुख सोभन को
साचो सरदार तीन लोक रजधानी को।
गाइन के संग देख आपनो बखत लेख
आनद विशेष रूप अकह कहानी को।
ठाकुर कहत साचो प्रेम को प्रसंगवारो
जा लख अनंग रंग दंग दधि-दानी को
पुण्य नन्द जू को अनुराग ब्रजवासिन को
भाग यसुमति को सुहाग राधा रानी को।

ठाकुर जी की प्रेम-सूक्तियों में लौकिक भावों की ही प्रधानता है—

वा निरमोहिन रूप की रासि जौ
ऊपर कै उर आनत ह्वै है।
बारहु बार बिलोकि घरी घरी
सूरति तौ पहिचानति ह्वै है।

या जग में जनमें को जिये को
यहै फल है हरि सों हित कीजै ॥
एक ही सों चित चाहिये और लों
बीच दगा को परै नहिं टाँको।
मानिक सों चित बेंचि कै जू अब
फेरि कहाँ परखावनो ताको।
ठाकुर काम नहीं सबको इक
लाखन में परवीन है जाको।
प्रीति कहा करिवे में लगै
करिकै इक ओर निवाहनो वाको।

अन्त में उन्होंने कहा है—

यह प्रेम कथा कहिए किहि सों
सौ कहे सों कहा कोउ मानत है।
पर ऊपरी धीर बँधायो चहैं
तन रोग न वा पहिचानत है।
कहि ठाकुर जाहि लगी कसकै सु तो
को कसकै उर आनत है।
बिन आपन पाँय बिवाय गये
कोउ पीर पराई न जानत है।

नेवाज की उक्तिया भी श्रृङ्गार-रस से पूर्ण हैं—

देखि हमैं सब आपुस में
जो कछू मन भावे सोई कहती हैं।
ए घरहाई लोगाई सबै
निसि द्योस नेवाज हमैं दहती हैं।
बातें चवाव भरी सुनि कै
रिसि आवत पै चुप ह्वै रहती हैं।

आलम कहत आली अजहू न आये कन्त
कैधों उत रीति विपरीत विधि ने ठई।
मदन महीप की दुहाई फेरिबे ते रही
जूझि गये मेघ कैधों बीजुरी सती भई।

और भी

जा थल कीन्हे विहार अनेकन
ता थल कांकरी बैठि चुन्यौ करैं।
जा रसना सों करी बहु बातन
ता रसना सों चरित्र गुन्यौ करै।
आलम जौन से कुञ्जन में करी
केलि तहा अब सीस धुन्यौ करैं।
नैनन में जो सदा रहते
तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करै।

अब तीन सूक्तियां और देकर हम व्रज-साहित्य के रूप पर विचार करेंगे—

जो कछु वेद पुरान कही सुनि
लीनी सबै जुग कान पसारे।
लोकहु मे यह ख्यात प्रथा
छिन में खल कोटि अनेकन तारे।
वृन्द कहै गहि मौन रहै किमि
हौ हठ कै बहु बार पुकारे।
बाहर ही के नहीं सुनो हे हरि
भीतर हू ते अहौ तुम कारे॥
नैनन को तरसैये कहां लौं
कहाँ लौं हिये विरहागि मे तैये।

एक घरी न कहूं कल पैहै कहा लगि
प्रानन को कलपैहे ।
आवै यही अब जी में बिचार
सखी चलु सौतिहु के घर जैये ।
मान घटे ते कहा घटिहै जु पै
प्रान पियारे को देखन पैये ॥
सूपति जाति सुनी जब सो कछु
खात न पीवति कैसे धौं रैहै ।
जाको है ऐसी दसा अबही
रघुनाथ सो औधि अधार क्यों पैहै ।
ताते न कीजिए मौन बलाइ ल्यौं
गौन करै यह सोच बिसैहै ।
जानति हौ तुम छोट नवेलि
[illegible] रहि [illegible] संग जैहे ।

मनुष्यों में भक्ति की भावना ऐसी है जहां कृत्रिमता के लिए अवकाश नहीं रहता। परंतु जब कवि भगवद्प्रेम से गद्गद होकर उनका सामीप्य चाहता है या व्यथा से पीड़ित होकर उनका आश्रय चाहता है तभी वह सब कुछ भूल कर एक-मात्र अपने भाव को ही स्पष्ट करने में लगता है। किन्तु वही भक्ति उसकी रचना का विषय हो जाने पर हृदय में न तो शान्ति की धारा बहा सकती है और न करुण-रस का सचार कर सकती है। उससे केवल कौतूहल की वृद्धि होती है। ग्वाल कवि का निम्नलिखित पद्य इसका अच्छा उदाहरण है—

गीधे गीध तारि कै सुतारि उतारि कै जू
धारि कै हिये में निज बात जटि जायगी।
तारि कै अवधि करी अवधि सुतारिबे की
बिपति बिदारिबे की फास कटि जायगी।
ग्वाल कवि सहज न तारिबो हमारो गिनो
कठिन परैगी पाप पाति पटि जायगी।
यातें जो न तारिहौ तुम्हारी सौंह रघुनाथ
अधम उधारिबे की साख घटि जायगी।

ऐसी अवस्था में कवित्व-कला की कसौटी उक्तिके वैचित्र्य और नवीनता पर निर्भर रहती है। जिस पद्य में उक्ति की जितनी ही अधिक विचित्रता और नवीनता रहती है वह उतना ही अधिक चित्ताकर्षक होगा। उक्ति-वैचित्र्य के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

चित चाह अबूझ कहै कितने
छवि छीनी गयन्दन की टटकी।
कवि केते कहैं निज बुद्धि उदै
यह लीनी मरालन की मटकी।

आनन मे उपमा उपमेय है
नैन मे निन्दित दै करि चोरन।
खंजन हू को उछाह दियो
दृग के करि डारे अनङ्ग के तोरन।

इसी उक्ति-वैचित्र्य में अलंकार का चमत्कार भी दृग्गोचर होता है। अलंकार दो प्रकार के माने गये हैं, शब्दालंकार और अर्थालंकार। शब्दालंकारों में अनुप्रास मुख्य है और अर्थालंकारों में उपमा। सच पूछिए तो इन्हीं दो से अन्य सभी अलंकारों का उद्भव हुआ है और उक्ति में विलक्षणता लाने के ही लिए उनकी सृष्टि हुई है। उपमा के द्वारा भाव स्पष्ट ही नहीं होता है, वह रमणीय भी हो जाता है। अनुप्रास सिर्फ भाषा-सौंदर्य के लिए प्रयुक्त होता है, परंतु उससे भी कविता के मूल गत ध्वनि-मात्र द्वारा स्पष्ट होते हैं। कुछ लोग अनुप्रास को शब्दाडम्बर-मात्र समझते हैं। यह उनकी भूल है। यह सच है कि कितने ही कवियों ने केवल आडम्बर के लिए ही अनुप्रास या यमक का प्रयोग किया है। परंतु इसी में उसकी सार्थकता नहीं है। जैसे रूप के सादृश्य से उपमा की सृष्टि होती है वैसे ही शब्दों के सादृश्य से अनुप्रास की रचना होती है। शब्दों में एक प्रकार का पारस्परिक आकर्षण रहता है। पत्ते पत्ते मिलकर मर्मर-ध्वनि उत्पन्न करते है, तरंगों के पारस्परिक आघात से कल कल नाद उत्पन्न होता है। इसी प्रकार शब्दों के मिलने से काव्य मे एक अपूर्व सङ्गीत-ध्वनि उत्पन्न होती है। अनुप्रास का एक उदाहरण लीजिए— 'दामिनी दमक सुर चाप की चमक श्याम घटा की घमक अति घोर घन घोर तें।' अनुप्रास की इस छटा मे वर्षा की

उपर्युक्त पद्यों में शब्दों की योजना से किसी भी भाव का रूप स्पष्ट नहीं होता। अब पद्माकर का एक पद्य लीजिए—

ये ब्रजचन्द चलो किन वा ब्रज
लूक वसन्त की ऊकन लागी।
त्यों पद्माकर पेखो पलासन
पावक सी मनो फूकन लागी।
वै ब्रजनारी विचारी वधू
वन बावरी लौं हिये हूकन लागी।
कारी कुरूप कसाइन पै सु
कुहू कुहू क्वैलिया कूकन लागी।

भाषा और भाव का उचित सामञ्जस्य होने पर अनुप्रास अथवा यमक इतना स्वाभाविक हो जाता है कि उस पर हमारी दृष्टि ही नहीं जाती।

बातनि क्यों समुझावति हौ मोहि
मैं तुमरो गुन जानति राधे।
प्रीति नई गिरिधारन सों भई
कुञ्ज में रीति के कारन साधे।
घूंघट नैन दुरावन चाहति
दौरति सो दुरि ओट ह्वै आधे।
नेह न गोयो रहै सखि लाज
सों कैसे रहे जल जाल के बाधे।

संसार में हम जो कुछ देखते हैं उसकी अप्रत्यक्ष मूर्ति हमारे हृदय में अङ्कित हो जाती है। आकाश, वायु, जल, अग्नि आदि सभी वस्तुएं हमारी अनुभूति से मिल जाती हैं और उन्हीं की सहायता से अनिर्वचनीय भाव वचनीय किये

ऊधो अधिक ज्याध ह्वै आये मृग मन त्यों न परात।
भागि जाहि बन सघन स्याम में जहां न कोऊ घात।
खंजन मनरंजन न होहि ये कबहुं नहीं अकुलात।
पख पसारि न होहि चपल गति हरि समीप उड़िजात।
कमल न होहि कौन विधि कहिए झूठे ही तनु आड़त।
सूर दास मीनता कछू इक जल भरि कबहुं न छाड़त।

सौन्दर्य में कवियों ने भिन्न भिन्न तीन अवस्थाओं का वर्णन किया है। तुलसीदास और सूरदास के समान भक्त कवियों का वर्णन तो सर्वथा अलौकिक है। जिन्होंने मानवीय सौन्दर्य का वर्णन किया है उनमें तीन भेद स्पष्ट हैं। एक ने केवल शरीरज सौन्दर्य का वर्णन किया है जिसका एक-मात्र कारण उद्दाम वासना है। यह सच है कि उस वासना में गोपियों की चित्त वृत्ति कृष्ण की ही ओर लगी हुई थी परन्तु उनका लक्ष्य सम्भोग ही था। जिन कवियों ने हृद्-गम्य सौन्दर्य का वर्णन किया है उनकी रचनाओं में तृप्ति का भाव विद्यमान है और जिन्होंने ज्ञान के द्वारा उस परम-सौन्दर्य-निधान का जान लिया था उनके उद्गारों में मानसिक विकारों की प्रतिच्छाया कम दिखाई देती है। जिसे हम आजकल अश्लीलता कहते हैं उस दोष से एक मात्र तुलसी-दास जी ही दूषित नहीं हैं। अन्य सभी कवियों की रचनाओं में ऐसे पद्य हैं जो आधुनिक समाज के लिए ग्लानिकर हैं। परन्तु इसका कारण एक-मात्र युग-धर्म का प्रभाव है। कालिदास से लेकर भक्त-कवि जयदेव तक की रचनाओं में ऐसे ही पद्य हैं। इसका कारण यह है—प्रेम की अत्यन्त उच्च अवस्था में त्याग की वृत्ति इतनी प्रबल हो जाती है कि उन्हें लोक-मर्यादा का ध्यान ही नहीं रहता। जिनके हृदय में

कहै नन्दराम कारो कारो अंगराग अंग,
कारी कारी बाल या निकारी पै पहेली त्यों।
कारी कारी कुंजवे तमालतरु कारे कारे,
कारे कारे कान्हर पै जात है अकेली त्यों॥
पीले पीले गोलन कपोलन विराजि रहे,
पीले पीले कुण्डल दुचन्द द्युति दरसै।
पीले पीले हार उर गेंदा गुलदाउदी के,
पीले पीले कुसुम सुकेश छवि सरसै॥
पीले पीले केसरि के अंगराग अगन में,
पीले पीले पौन ते परागपुंज परसै।
नन्दराम पीले पीले किसुक झरत जात,
मानो प्यारी अगन ते पीलो रग बरसै॥

उपर्युक्त सभी सूक्तियों में कल्पना है, भाव है औ सौन्दर्य है। पर कहने की आवश्यता नहीं कि इन तीन का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित है। इसीसे उनमे नवीनता औ मौलिकता का अभाव है। उच्चकोटि और निम्नकोटि की कल में यही भेद है। इस युग मे उच्चकोटि की कवित्व कला देव जी की रचनाओं में अवश्य विद्यमान है।

देव जी सभा-कवि थे। अन्य कवियों की तर उन्होंने भी अपने आश्रयदाता की प्रशसा की है और उनक भी रचना शृङ्गार-रस से पूर्ण है। निम्नलिखित पद्य में उन्हों भोगीलाल की गुणज्ञता को प्रशसा की है—

भूलि गयो भोज बलि विक्रम बिसरि गये
जाके आगे और तन दौरत न दीदे हैं।
राजा राउ राने उमाराउ उनमाने उन
माने निज गुन के गरब गवीदे हैं।
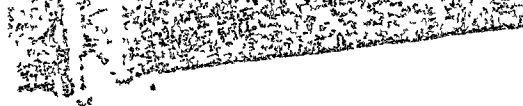
सुबस रजाज जाके सौदागर सुकवि
चलेई आवैं दसहूं दिसान के उनींदे हैं।
भोगोलाल भूर लाख पाथर लिवैया जिन
लाखन खरचि रचि आखर खरीदे हैं।

देव जी की विशेषता उनके शृङ्गार-रस के विश्लेषण में है। उन्होंने नायक-नायिका के रूप में श्रीकृष्ण और राधा जी का विशेष लक्ष्य रक्खा है—

माया देवी नायिका नायक पुरुष आप।
सबै दम्पतिन में प्रकट देव करैं तेहि जाप।

इसी से वे यह कह सके—

औचक अगाध सिन्धु स्याही को उमड़ि आयो
तामें तीनों लोक बूड़ि गये एक संग में।
कारे कारे कागद लिखे जो कारे आखर
सुन्यारे करि बाचै कौन जांचै चित भंग में।
आंखिन में तिमिर अमावस की रैनि अरु
जंबू रस बुंद जमुना जल तरंग में।
मोही मन मेरो मेरो काम को न रह्यो देव
स्याम रंग है कर समानो स्याम रंग में।

प्रेम की इस धारा में सभी वासनायें बह गईं—

देव घनस्याम रस बरस्यो अखंड धार
पूरन अपार प्रेम-पूरन नहिं पर्‌यो।
विषै-बन्धु बूड़े मद मोह-सुत दबे देखि
अहंकार मीत मरि सुरझि नहिं पर्‌यो।
आशा त्रिसना सी बहू बेटी लै निकसि भाजी
माया मेहरी पै देहरी पै न रहि पर्‌यो।

गयो नहिं हेरो ज्यों न मन में अँधेरो नेह
नदी के किनारे मन-मन्दिर ढहि परयो।

इस प्रेम के प्रवाह में लोक-मर्यादा की भित्ति भी ढह जाती है।

कोऊ कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ
कोऊ कहौ रंकिनि कलंकिनि कुनारी हौं।
कैसो परलोक नरलोक बरलोकन मैं
लीन्हों मैं असोक लोक लोकन ते न्यारी हौं।
तन जाहु मन जाहु देव गुरुजन जाहु
जीव क्यों न जाहु टेक टरति न टारी हौं।
बृन्दावन वारी बनवारी के मुकुट पर
पीत पट वारी वहि मूरति पै वारी हौं।

अर्थात् मुझे कोई कुलटा कहे या कुलीन, अकुलीन रंकिनी, कलंकिनी, कुनारी कुछ भी कहे मुझे इसकी परवाह नहीं है। पर-लोक और नर लोक तो क्या मैंने श्रेष्ठ लोगों से उस लोक को लिया है जो शोक रहित है। इसीसे मैं सब लोगों से अलग हूँ। शरीर भले ही चले जाय, मन भी जाय, पर मेरा प्रण नहीं टूटेगा। मैं तो वृन्दावन के पीताम्बरधारी वनवारी के मुकुट पर न्योछावर हूँ।

प्रेमोन्माद की इस अवस्था का चित्र देव ने निम्नलिखित पद्य में अङ्कित किया है—

जब तें कुवर कान्ह रावरी कला निधान
कान परी वाके कहू सुजस कहानी सी।
तब ही ते देव देखी देवता सी हसति सी
रीझति सी खीझति सी रूठति रिसानीं सी।

और भी—

> सूनो कै परमपद, ऊनो कै अनंत मद
> नूनो कै नदीस नद, इंदिरा झुरै परी।
> महिमा मुनीसन की संपति दिगीसन की
> ईसन की सिद्धि ब्रज बीथी बिथुरै परी।
> भादौं की अँधेरी अधराति मथुरा के पथ
> आई मनोरथ देव दरसौ दुरै परी।
> पारावार पूरन अपार परब्रह्म-रासि
> जमुना के कोरे एक बारक कुरै परी॥

देव के ऋतु- वर्णन में निम्नलिखित पद्य में नवीनता अवश्य है—

> डार द्रुम पालन बिछौना नव पल्लव के
> सुमन झँगूला सोहै तन छबि भारी दे।
> पवन झुलावैं केकी कीर बतरावैं देव
> कोकिल हलावैं हुलसावैं कर तारी दे।
> पूरित पराग सों उतारा करै राई नोन
> कंज कली नायिका लतानि सिर सारी दे।
> मदन महीप जू को बालक बसन्त ताहि
> प्रात हिये लावत गुलाब चटकारी दे।

अर्थात् बसन्त काल में प्रकृति का जो वैभव देखा जाता है उसमें प्राधान्य मदन का ही है। बसन्त का जन्म होने पर पवन, कोकिल, लता, गुलाब सभी उसकी सेवा में तत्पर हैं। यही विलक्षणता उनके निम्नलिखित पद्य में है। नायिका वसन्त को पावस बना रही है—

> नील पट तन पर घन से घुमाय राखौ
> दन्तन की चमक छटा सी विचरति हौ।

अनुराग भरे हरि बागन में
सखि रागत राग अचूकनि सों।
करि देत छटा उनई जु नई
वन भूमि भई दल दूकनि सों।
रंगराती हरी हहराती लता
झुकि जाती समीर के झूंकनि सों।

चारों ओर चातक और मयूरों की ध्वनि और कोयलों की कूकें सुनकर हरि उद्यान में गा रहे हैं। इधर घटा उमड़ी उधर वन-भूमि वनस्पतियों से भर गई। आनन्द से हरी-हरी लतायें हवा के झोकों से झुक झुक जाती हैं। निम्न लिखित पद्य भी भाषा-सौष्ठव का अच्छा उदाहरण है—

वारौं कोटि इन्दु अरविन्दु रस विन्दु पर
मानै ना मलिंद विन्दु समकै सुधा सरो।
मलै सलिल मालती कदंब कचनार चंपा
चापे हून चाहै चित चरन टिकासरो।
पदुमिन तू ही पट पदु को परम पदु देव
अनुकूल्यो और फूल्यो तौ कहा सरो।
रस रिस रास रोस आसरो सरन विसे
वीसो विसवास रोकि राख्यो निसि बासरो।

अर्थात् मैं तुझ पर करोड़ों चन्द्र और कमल न्योछावर करता हूं। तेरे प्रेम-रस की एक बूंद के आगे भौंरा अमृत के सरोवर को भी बिन्दु के समान नहीं मानता। चमेली, चन्दन, मालती, कदम्ब, कचनार, चम्पा आदि पर तो वह पैर नहीं रखता। हे पद्मनी, भौंरे का परम आश्रय तू ही है। दूसरे फूल कितने ही खिले हों वे कर ही क्या सकते हैं। रस में, रास में, खीझ में, क्रोध में, तू ही उसका आश्रय है। तू ने ही उसको दिन-रात बांध रक्खा है।

बेनी वर बिलसै प्रयाग-भूमि ऐसी है
अमल छवि छाज रही जैसे कछु आरसी।
दास नित देखिए सची सी संग उर बसी
कामद अनूप कलपद्रुम की डार सी।
सरस सिंगार सुबरन वर भूषन सी
बनिता को, बनिता है कविता उदार सी।

उन्हीं की दो और उक्तियां देखिए—

देस—बिनु भूपति दिनेस—बिनु पंकज
फनेस-बिनु मनि औ निसेस-बिनु जामिनी।
दीप-बिनु गेह औ सनेह-बिनु सपति
अदेह-बिनु देह घन-मेह बिनु दामिनी।
कविता सुछंद-बिनु मीन जल-वृन्द बिनु
मालती मलिन्द-बिनु होती छवि-छामिनी।
दास भगवन्त-बिनु मत अति व्याकुल
वसन्त-बिनु लतिका सुकन्त बिनु कामिनी।

और भी

नेगी बिनु लोभ को पटैत बिनु छोभ को
तपस्वी बिनु छोभ को सताये ठहराइये।
गेह बिनु पंक को सनेही बिनु सक को
सदा बिनु कलंक को सुबंस सुखदाइये।
विद्या बिनु दंभ-सुत आलस-विहीन दूत
विना कुव्यसन पूत मध्य मन ध्याइये।
लोभ-बिनु जप-जोग दास देह बिनु रोग
सोग-बिनु भोग बड़े भागन तें पाइये।

गिरिधर कविराय की कुण्डलिया हिन्दी-साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं। कृत्रिमता के युग मे उन्होंने नीति को

साईं अपने भ्रात को कबहुं न दीजै त्रास।
पलक दूर नहि कीजिए सदा राखिए पास।
सदा राखिए पास त्रास कबहूं नहि दीजै।
त्रास दियो लंकेश ताहि की गति सुनि लीजै।
कह गिरिधर कविराय रामसों मिलिगो जाई।
पाय विभीषण राज्य लंकपति बाज्यो साईं।

अर्थात् अपने बन्धु-बान्धव के साथ कभी विरोध करना नहीं चाहिए। उनको कभी कष्ट नहीं देना चाहिए। उन्हें सदैव अपने पास ही रखना चाहिए। बन्धु विरोध का परिणाम सदैव बुरा ही होता है। रामायण में विभीषण की कथा प्रसिद्ध है।

छोड़ि देत है बाज राज अब ऐसो आयो।
सिंहन को करि कैद स्यार गजराज चढ़ायो।
कह गिरिधर कविराय जहाँ यह बूझ बड़ाई।
तहाँ न बसिये रैन माझ ही चलिए साईं।

श्वसुर के आश्रम में रहकर जीवन व्यतीत करता हुआ पुत्र कवि का कोई परिचित ही व्यक्ति रहा होगा—

साईं ऐसे पुत्र से बांझ रहे वरु नारि।
बिगरी बेटा बाप से जाय रहे ससुरारि।
जाय रहे ससुरारि नारि के नाम बिकाने।
कुल के धर्म नसाय और परिवार नसाने।
कह गिरिधर कविराय मातु झंखै वहि ठाईं।
अस पुत्रनि नहि होयँ बाँझ रहितिउँ वरु साईं।

निम्नलिखित पद्यों में उन्होंने कितने अच्छे ढंग से अपने अनुभवों को व्यक्त किया है—

बीती ताहि बिसारि दे आगे की सुधि लेइ।
जो बनि आवै सहज में ताही में चित देइ।
ताही में चित देइ बात जो में बनि आवै।
दुर्जन हसै न कोइ चित्त में खता न पावै।
कह गिरिधर कविराय यहै करु मन परतीती।
आगे को सुख समुझि होइ बीती सो बीती।

अर्थात् जो लोग सदैव अतीत बातों की ही चिन्ता करते रहते हैं दुर्जन उनकी हंसी करते हैं। हृदय में दुख होता है और कोई कार्य भी पूरा नहीं होता। इसलिए बुद्धिमत्ता इसीमें है कि हम अतीत को भूल कर भविष्य की चिन्ता करें। भविष्य में ही तो सुख है।

अर्थात् इन तेरह व्यक्तियों से विरोध करना विपत्ति बुलाना है।

दौलत पाय न कीजिए सपने में अभिमान।
चंचल जल दिन चार को ठाउं न रहत निदान।
ठाउं न रहत निदान जियत जग में जस लीजे।
मीठे बचन सुनाय विनय सबहीं सों कीजे।
कह गिरधर कविराय अरे यह सब घट तौलत।
पाहुन निसिदिन चारि रहत सब ही के दौलत।

अर्थात् धनी व्यक्तियों में अहङ्कार के कारण जो सब से बडा दोष होजाता है वह है कटु भाषण। धनी को सदैव विनम्र होना चाहिए।

लटे पटे दिन काटिए घर में रहिए सोय।
छाह न वाको बैठिए पेड़ पातरो जोय।
पेड़ पातरो जोय एक दिन धोखा देहै।
जा दिन बहै बयारि टूटि तब जड़ से जैहै।
कह गिरिधर कविराय छाह मोटे की गहिए।
पाता सब झरि जाय तऊ छाहे में रहिए।

अर्थात् निर्बलों का आश्रय कभी नहीं लेना चाहिए। जिनका चरित्र दुर्बल है वे श्रीमान होने पर भी आश्रय लेने योग्य नहीं हैं। जिनके चरित्र में दृढ़ता है वे श्री-हीन होने पर भी अपने आश्रितों की सहायता करेंगे।

हितजन कबहुं न मानहीं कोटि करै जो कोय।
मरदम आगे राखिए तऊ न अपनो होय।
तऊ न अपनो होय भले की भली न माने।
काम काढि चुप रहै न पुनि ताहीं पहिचाने।

कहै पदमाकर गिरीस के बसे हो सीस
तारन के ईस मुलकारन कन्हाई के।
हाल ही के बिरह बिचारि ब्रज बाल ही पै
ज्वाल ने जगावत हो ज्वाल ही जुन्हाई के।
एरे मतिमन्द चन्द आवत न तो को लाज
ह्वै के द्विजराज काज करत कसाई के।

कितने ही स्थलों में पद्माकर ने साधारण मनोभा
का वर्णन विशेष ढंग से किया है। उन्होंने केवल शब्द-विन्या
से पाठकों में कौतूहल का भाव जाग्रत किया है—

सजि ब्रज बाल नंदलाल सो मिलै के लिए
लगनि लगा लगि मैं लमकि लमकि उठै।
कहै पदमाकर चिराग ऐसी चाँदनी सी
चारौं ओर चौकनि नै चमकि चमकि उठै।
झुकि झुकि झूमि झूमि झिल झिल झेल झेल
झरहरो झापन में झमकि झमकि उठै।
दर दर देखो दरीखानन मैं दौरि दौरि
दुरि दुरि दामिनी सी दमकि दमकि उठै।

अथवा

ताकिये तितै कुसुम्भ सों चुवोई परै
प्यारी परवीन पाउँ धरत जितै जितै।
कहै पदमाकर सुपौन ते उतालो बनमाली
पै चली यों बाल बासर बितै बितै।
भार ही के डरन उतारि देत आभरन
हीरन के हार देति हिलन हितै हितै।
चादनी को चौसर चहूधा चौक चादनी मैं
चादनी सी आई चन्द चांदनी चितै चितै।

चलो चलु चलो चलु बिचलु न बीच ही तें
कीच बीच नीच तौ कुटुम्ब को कचरिहौं।
एरे दगादार मेरे पातक अपार
तोहि गंगा के कछार में पछारि छार करिहौं॥
बिधि के कमण्डलु की सिद्धि है प्रसिद्धि यही
हरि पद पंकज प्रताप की लहर है।
कहै पदमाकर गिरीश शीश मण्डल के
मुण्डन की माल ततकाल अघहर है।
भूपति भगीरथ के रथ की सुपुन्य पथ
जहु जप योग फल फैल की फहर है।
क्षोभ की छहर गंगा रावरी लहर
कलिकाल को कहर यमजाल को जहर है॥
अधम अमान एक चढ़ि कै बिमान भाग्यो
बूझत हौं गंगा तोहि परि परि पाय हौं।
कहै पदमाकर कृपाल ह्वै बतावो साची
देखे अति अद्भुत रावरे सुभाय हौं।
तेरे गुन गान ही की महिमा महान मैया
कान कान गाइ के जहान यश छाय हौं।
एक मुख गाये तातें पंचमुख पाये
अब पच मुख गाइहौं तौ केते मुख पाय हौं।

पद्माकर की रचनाओं में ब्रज-साहित्य के सभी गु
और सभी दोष विद्यमान हैं। उनमें शब्दों की छटा भी है औ
निरर्थक अनुप्रासों और यमकों की सृष्टि भी है। उन
गम्भीर भाव भी है और अस्वाभाविक नायक ओं क
कृत्रिम प्रेम-वर्णन भी है। कहीं उक्ति-वैचि कहं
गूढ़ व्यथा है—

हानि अरु लाभ ज्ञान जीवन अजीवन हू
भोग हू वियोग हू सयोग हू अपार है।
कहै पद्माकर इते पै और केते कहौ
तिनको लख्यो न वेद हू मे निरधार है।
जानियत या रघुराय की कला को कहू
काहू पार पायो कोऊ पावत न पार है।
कौन दिन कौन छिन कौन घरी कौन ठौर
कौन जाने कौन को कहा धौं होनिहार है ॥

प्रलय के पयोनिधि लौं लहरैं उठन लागीं
लहरा उठ्यौ तो हौन पौन पुरवैया को।
भीर भरी भावरी विलोकि मँझधार परी
धीर न धरात पद्माकर खेवैया को।
कहां वार, कहा पार, जानी है न जात कछू
दूसरो देखात न बचैया और नैया को।
बड़न न पैहे घेरि घाट हो लगैहे
ऐसो अमिट भरोसो मोहि मेरे रघुरैया को ॥

ब्याध हू ते बिहद असाधु हौं अजामिल लौं
ग्राह ते गुनाही कहौ तिन मे गिनाओगे।
स्यौरी हौं न सूद्र हौं न केवट कहूँ को त्यौं न
गौतमी तिया हौं जापै पग धरि आओगे।
राम सौं कहत पद्माकर पुकारि तुम
मेरे महा पापन को पारहू न पाओगे।
झूठो ही कलंक सुनि सीता ऐसी सती तजी
हौं तो साँचो हू कलंकी ताहि कैसे अपनाओगे ॥

अर्थात् आज इस देव-भूमि की हीन दशा है। द्विजों की भी दुरवस्था है। तुम्हारे भक्तों को भी कहीं आश्रय नहीं हैं। उनके हृदय सन्तप्त हैं। उनका मन म्लान होगया है हे घनश्याम, अब आप आकर उन पर कृपा कीजिए।

भीसम ग्रीषम ताप में भयो झाँवरो छीन।
है यह चातक डावरी अनुग रावरो दीन।
अनुग रावरो दीन लीन आधीन तिहारे।
रटै नाम वसु जाम रहै घनश्याम निहारे।
बरनै दीन दयाल पालिये लखि तप तीखन।
सरी सरोवर सिन्धु काहु इन मांगी भीखन।

अर्थात् आज इस भव के भीषण संताप से तुम्हारा अनन्य भक्त अत्यन्त क्षीण हो गया है। वह तो तुम्हें ही पुकारता है। तुम्हीं एक-मात्र उसके आश्रय हो, अन्य किसी का भी आश्रय उसने नहीं लिया। आज उसके सन्ताप को देखकर तो तुम उसकी रक्षा करो।

जग को धन तुम देत हौ गजि कै जीवन दान।
चातक प्यासे रटि मरे तापर परे पखान।
तापर परे पखान बान यह कौन तिहारी।
सरित सरोवर सिन्धु तजे इन तुमैं निहारी।
बरनै दीन दयालु धन्य कहिए यहि खग को।
रखो रावरी आस जन्म भरि तजि सब जग को।

अर्थात् सर्वत्र आपकी कृपा दृष्टि है। जो आपका अनन्य भक्त है उसी पर विपत्ति है। इसने तो संसार का, पार्थिव वैभव का, तिरस्कार कर सदैव आपका ही ध्यान किया है।

अर्थात् जो आपके आश्रित हैं, जो आप की ही ओर आशा लगाये खड़े हैं उन पर तो आपकी कृपा दृष्टि होती नहीं। जिन्हें आपकी कृपा की आवश्यकता नहीं उन पर आप कृपा कर रहे हैं। यही तो दया करने का ठीक अवसर है।

> बरसै कहा पयोद इत मानि मोद मन माहिं।
> यह तो ऊसर भूमि है अंकुर जमि है नाहिं।
> अंकुर जमि है नाहिं बरस शत जो जल दैहै।
> गरजै तरजै कहा वृथा तेरो श्रम जैहै।
> बरनै दीन दयाल न ठौर कुठौरहि परसै।
> नाहक गाहक बिना बलाहक ह्यां तू बरसै।

जो अपात्र है, जो अयोग्य हैं, उनके लिए आपका यह दान व्यर्थ है, उनके लिए आपका सारा परिश्रम किसी काम का नहीं। आज आप पात्र और अपात्र का विना विचार किये ही अपनी सम्पत्ति का, अपनी कृपा का, अपव्यय कर रहे हैं।

[२]

ब्रज साहित्य का अन्तिम युग मुगल-साम्राज्य का अंतिम युग है। श्रीमानों की संरक्षकता में कवियों ने कला की जो विभूति की थी वह उनका संरक्षण न रहने पर लुप्त होगई। अतएव कविता का विषय भी अत्यन्त हीन होगया। मौलिकता और नवीनता न रहने पर भी साहित्य में केवल कल्पना के द्वारा श्री निर्मित की जा सकती है। वह श्री भी चली गई। एक कवि ने हताश होकर लिखा है—

> गाहक भये सुमदा सु बादशाह हीन हुए
> त्याग अवगुन दुशाला बेंच पाई है।
> बाले भये भूपति छोड़ि [illegible]
> सूरप मदन्न अन्य [illegible] ना दिखाई है।

सप्तम परिच्छेद

[१]

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी हिन्दी-साहित्य में नवयुग के प्रवर्तक हैं। उनके समय से लेकर आज तक हिन्दी-साहित्य का विस्तार बढ़ता ही गया है। परन्तु गत पचास वर्षों में हिन्दी की विशेष उन्नति हुई है। श्रेष्ठ विद्वानों की राय है कि प्रत्येक देश का इतिहास कई युगों में बटा रहता है। प्रत्येक युग में एक विशेष सभ्यता, कुछ विशेष विचारों और भावनाओं तथा उनही के अनकूल संस्थाओं का प्राधान्य रहता है। उनके द्वारा देश दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति करता दिखाई देता है। किन्तु कालान्तर में वही विचार, वही भावनायें, वही संस्थायें ऐसी विकृत हो जाती हैं कि उनका प्रारम्भिक बल जाता रहता है। तब

इसके पश्चात् जो समय आया उसको हम आधुनिक भारतवर्ष का अन्ध-युग कह सकते हैं। यह समय मोटे तौर से सन् १७६० से १८३० तक अर्थात् कार्नवालिस के शासन-काल से वेनटिङ्क के शासन-काल तक रहा है। इसको अन्ध-युग इस लिये कहा है कि इस समय प्राचीन सभ्यता और संस्कृति तो एक दम ठंडी पड़ गई थी और नवीन का जन्म ही नहीं हुआ था। लोग हैरान थे। यह कोई नहीं कह सकता था कि भावी भारतवर्ष का जीवन किस सांचे में ढाला जानेवाला है। किन्तु शायद इसको आधुनिक भारतवर्ष का वपन-काल कहना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि इसी समय में बीज पृथ्वी फाड़कर अङ्कुर निकालने का उद्योग कर रहा था।

इसके समाप्त होते ही भारतवर्ष का आधुनिक युग चलता है। भारतवासियों ने अपनी दिशा निश्चित कर ली थी। इंगलेंड में इन दिनों धड़ाधड सुधार हो रहे थे। भारत-वासियों ने उन्हीं का अनुकरण किया। राष्ट्रीय-जीवन किसे कहते हैं, देश के शासन में नागरिक के क्या अधिकार होने चाहिये, इन बातों की शिक्षा भारतवासियों को पश्चिम से ही मिली। उन्नतिशील भारतवासी इन्हीं विचारों के आधार पर देश के जीवन का संस्कार करने लगे। किन्तु इन भारतवासियों की कायापलट्ट हो गई थी। ये एक दूसरे ही रंग में रंगे हुए थे। इनका उपास्य देव पूर्व नहीं, पश्चिम था। इनमें से अधिकांश अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य के पण्डित हो चुके थे। आधुनिक भारतवर्ष की आधार-शिला इन्हीं लोगों ने जमाई है। यही भारतवर्ष के प्रारम्भिक नेता हैं। राजा राममोहन राय नवयुग के सबसे बड़े गुरु और आचार्य

आधुनिक हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भ में लल्लूलाल, राजा लक्ष्मण सिंह, राजा शिवप्रसाद और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाम प्रसिद्ध हैं। लल्लूलाल जी का प्रेम सागर अभी तक आदरणीय है। राजा लक्ष्मण सिंह ने कालिदास के रघुवंश, मेघदूत और अभिज्ञान-शाकुन्तल का अनुवाद करके हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि की। राजा शिवप्रसाद जी से हिन्दी साहित्य को प्रारम्भिक पाठ्य-पुस्तकें प्राप्त हुईं। भारतेन्दु जी की कुछ रचनायें हिन्दी की स्थायी सम्पत्ति हैं। उनकी रचनाओं से सब से बड़ा लाभ यह हुआ कि साहित्य का आदर्श ही बदल गया। लोगों ने मानव-जीवन से भी कला की सामग्री प्राप्त करने की चेष्टा की। यह प्रयत्न अभी तक हो रहा है। हरिश्चन्द्र के पहले सज्जाद सुम्बुल तथा परीक्षा-गुरु के समान ग्रन्थों की रचना नहीं की जा सकती थी। ये दो ग्रन्थ साहित्य के श्रेष्ठ रत्न नहीं है, परन्तु इनसे यह प्रकट हो जाता है कि हिन्दी में मनुष्य भी कला का विषय होगया है, नायक के रूप में नहीं किन्तु अपने यथार्थ रूप में। एक विद्वान ने लिखा है—

साहित्य के लिये वह दिन बड़ा महत्व-पूर्ण होगा जब लोग यह समझने लगेंगे कि कला की अभिव्यक्ति के लिए किन उपायों का अवलम्बन किया जाता है। वे स्वयं कला नहीं है। कला साध्य है और वे उपाय साधन मात्र हैं। साधन को साध्य नहीं समझना चाहिये। चित्र-कला अथवा सङ्गीत-कला में लोग साध्य-साधन के विषय में इतनी भूल नहीं करते जितनी कविता में। रङ्ग से चित्र अङ्कित किया जाता है, परन्तु कपड़े पर सिर्फ रङ्ग भर देने से उसे कोई भी चित्र नहीं कहेगा। इसी प्रकार सङ्गीत की अभिव्यक्ति के लिये ध्वनि की आवश्यकता है, पर सिर्फ ध्वनि से सङ्गीत की

हम कम देखते हैं। वर्षा होती है, नदी उमड़ उमड़ कर बहती है, मेघ गरजते हैं, बिजली तड़पती है, पर हिन्दी के कवियों के लिये प्रकृति का यह विलास किसी नायक-नायिका के मनोविनोद के लिये होना है। गोस्वामी तुलसीदासजी प्रकृति के एक एक दृश्य से संसार की निस्सारता सिद्ध करते हैं। हम उनकी ओर विस्मय-विमुग्ध होकर अवश्य देखते हैं, पर प्रकृति की छटाकी ओर हमारा ध्यान नहीं, जाता। वर्षा विगत शरद ऋतु आई, पर हम गोस्वामी जी की आध्यात्मिक भावना में लीन रहे। उसके आगे प्रकृति की शोभा बिलकुल दब गई। अन्य कवियों ने प्राकृतिक-सौन्दर्य को सांसारिक कामनाओं के नीचे दबा दिया है। इधर वर्षा हो रही है, उधर अश्रुधारा से किसी कामिनी का कपोल भीग रहा है। चन्द्रोदय क्या हुआ, विरहाग्नि की ज्वाला भभक उठी। दक्षिण की हवा बही और उसके साथ वियोगिनी आहें भरने लगी। हम यह नहीं कहते कि ये बातें होती हो नहीं। ये होती हैं, पर इनकी गणना असाधारण घटनाओं में करनी चाहिये।

जब कोई विरक्त सन्यासी चञ्चलता की चमक में संसार की क्षणभंगुरता देखता है तब कितने ही छोटे छोटे लड़के वर्षा में हंसते कूदते रहते हैं। कोई किसान भींगता हुआ, अपनी गायों को खदेड़ता हुआ घर लौटता है, कोई अपने घर में बैठे बैठे वर्षा की शोभा देख कर आनन्दित होता है। इन लोगों की भावनायें हिन्दी के कितने कवियों ने व्यक्त की हैं? मनुष्य सभ्यता के अन्तिम सोपान पर भले ही पहुंच जाय पर वह उन भावनाओं को नहीं भूल सकता जिनसे उनका जीवन बना है। बच्चे को सुलाती हुई

माता में जो सौन्दर्य है वह किसी नायिका के भावावेश में नहीं है। नवदम्पत्ति के लज्जाशील नेत्रों में जो छवि है वह किसी नायिका की लीला में नहीं है। दुःख और दारिद्र, प्रेम और सहानुभूति के केन्द्र स्थल हैं। जो भाव देश और काल का अतिक्रमण कर समस्त मानव-जाति में व्याप्त हो वही कला का प्रधान विषय है। संसार में सुख है, तो दुःख भी है। कहीं प्रकाश है तो कहीं अन्धकार भी है। अतएव कविता से जनता का सम्बन्ध तभी स्थापित होगा जब लोग उसमें अपने हृदय की समस्त भावनायें देख सकेंगे। कल्पना के द्वारा कवि सर्वत्र वैभव का विलास देख सका है। परन्तु उसे मनुष्य का अन्तर्जगत भी देखना चाहिए। उसे बालकों की सरलता, युवकों की उद्दाम वासना, वृद्धों की विरक्ति, दरिद्रों का अन्तस्ताप और हतभाग्यों की निराशा का अनुभव करना चाहिए। इनका यथार्थ चित्र खींचकर जनता के हृदय में इन्हीं भावों का उद्रेक करना चाहिये। हिन्दी के पाठक अभी तक कविताओं को कौतूहलपूर्ण दृष्टि से देख सकते हैं। वे समझते हैं कि कविता में [illegible] रहती है। उनका सौन्दर्य उनके लिये रहस्यपूर्ण रहता है। अतएव यदि उनके सामने साहित्य का यथार्थ रूप रख दिया जाय तो वे उसमें [illegible] [illegible] भावना [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] कविता [illegible] नहीं मानते या [illegible] समझने लगेंगे, [illegible] उत्थान [illegible] है। [illegible] है [illegible]

रहस्यागार में नहीं छिपा हुआ है। वह सर्वत्र व्याप्त है; वह सभी का उपलभ्य है। वह साधारण है, असाधारण नहीं।

एक विद्वान् ने बड़े और छोटे कवियों में यह भेद बतलाया है कि प्राय. कला का नैपुण्य छोटे कवियों में ही अधिक प्रदर्शित होता है। कला की दृष्टि से जो रचना पूर्ण प्रतीत होती है उसकी महत्ता के विषय में लोगों को सन्देह होने लगता है। यह सच है कि कविता स्वयं एक कला है और भाव की अभिव्यक्ति के लिये सभी कलाओं को एक निर्दिष्ट पथ से जाना पड़ता है। साहित्य-शास्त्र के मर्मज्ञों ने कविता के लिये जो नियम निर्धारित किये हैं उनका एक मात्र उद्देश यही है कि कवित्व-कला का पूर्ण विकास हो। परन्तु जब कवि उन्हीं नियमों के अनुधावन में अपनी शक्ति लगा देता है तब हमें यही सन्देह होता है कि कहीं इस कवि की कला निष्प्राण तो नहीं है। बात यह है कि हम कवियों से यही आशा रखते हैं कि उनकी कला का आधार मनुष्य-संसार हो, उससे मानव-जीवन की यथार्थ समीक्षा की गई हो।

ऊपर हम कह आये हैं कि आधुनिक साहित्य के कुछ ही ग्रन्थ स्थायी साहित्य में परिगणित हो सकते है। साहित्य के दो विभाग किये जा सकते हैं, एक तो सामयिक साहित्य जो तत्कालीन समाज का हित-साधन करता है और दूसरा स्थायी साहित्य जो समाज के भविष्य-भाग का विधाता है। सामयिक साहित्य समाज की उपेक्षा नहीं कर सकता, वह उसकी रुचि के अनुकूल ही चलता है। पर स्थायी साहित्य को समाज के विरुद्ध भी चलना पड़ता है। इसमें संदेह नहीं कि इससे पहले-पहल उसकी उपेक्षा की जाती

रहा। पाश्चात्य शिक्षा ने समाज का आदर्श अवश्य बदल दिया परन्तु ब्रज-साहित्य का प्रभाव लुप्त नहीं होगया। गद्य में तो पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव पड़ने से उसका रूप स्थिर होगया और आदर्श भी। परन्तु पद्य में ब्रज-भाषा और ब्रज-साहित्य के आदर्श का ही प्राधान्य बना रहा। यद्यपि कुछ समय से खड़ी बोली की ही कविताओं की प्रचार वृद्धि हो रही है तो भी ब्रज भाषा के अनुयायी और समर्थक कवियों का अभाव नहीं। खड़ी बोली की कविताओं में आधुनिक युग की विचार-धारा को प्रवृत्त किया है बाबू मैथिली शरण गुप्त और पण्डित अयोध्या सिंह उपाध्याय ने। इन्हीं दो कवियों की रचनाओं में स्थायित्व गुण है भी। इन्होंने लोगों का ध्यान भाव-जगत् से हटा कर यथार्थ-जगत् की ओर आकृष्ट किया कल्पित नायक नायिकाओं के कल्पित प्रणय और कल्पित विलास की अपेक्षा दरिद्र किसान की झोपड़ी की ओर लोग अधिक प्रवृत्त हुए। इन भावों की अभिव्यक्ति के लिए खड़ी बोली ही उपयुक्त भाषा [illegible] है परन्तु साहित्य के आदर्श में अभी परिवर्तन नहीं हुआ है। पर कवियों में नवजीवन के [illegible] अवश्य [illegible] रहे हैं। कुछ समय से हिन्दी के नवयुग के कवियों ने [illegible] का वर्णन करना आरम्भ किया है [illegible] की जाती है। पर उस [illegible] का ध्यान [illegible] है और पथ भी अपरिचित है। अधिकांश नवयुवकों की कविता में हमें उसी प्रेम-लीला का [illegible] के परदे के भीतर है। [illegible] मिथ्या है [illegible] मिथ्या है तो भी इनमें [illegible]। [illegible] की नायिका की तरह इनकी नायिकायें [illegible] हैं। [illegible] के अन्धकार में, कृत्रिम प्रकाश की उज्ज्वलता में, वे [illegible]

में राष्ट्रीयता का समावेश करना चाहते हैं। दूसरी बात यह है कि कविता प्रासादिक होने के कारण जनता के लिये बोध-गम्य हो जायगी और तब उसके द्वारा लोगों में सुरुचि फैलेगी। हिन्दी-साहित्य में खड़ी बोली की कविताओं की वृद्धि हो रही है। उसका कारण ढूंढ़ने के लिये हमें वर्तमान समाज की ओर ध्यान देना चाहिये। भारतवर्ष के लिये यह युग परिवर्तन-काल है। अँगरेजी शिक्षा का प्रभाव भारत पर खूब पड़ा। अँगरेजी शिक्षा की बदौलत भिन्न भिन्न प्रान्तों का पारस्परिक सम्बन्ध बढ़ रहा है। वर्तमान युग की नवीनता ने समाज को अस्थिर कर दिया है। सभी लोग आत्मोन्नति के लिये कटि-बद्ध हो गये हैं। उन्हें अपनी वर्तमान स्थिति से असन्तोष है। असन्तोष का यह भाव इतना तीव्र हो गया है कि लोगों को भूत-ककाल का बन्धन असह्य है! अतएव जब कोई यह कहता है कि तुम्हारे भावों की अभिव्यक्ति के लिये इतना ही स्थान है, इससे अधिक तुम नहीं जा सकते तब लोग उस निर्धारित सीमा को भंग कर डालते हैं। सभी देशों में यही भाव कभी न कभी जाग्रत होता ही है। समाज में जब किसी नवीन भावका विशेष प्राबल्य होता है तब यह उस भाव को व्यक्त करने के लिये नवीन पथ ढूँढ़ निकालता है। बौद्ध-काल में प्राचीन संस्कृत का स्थान प्राकृत ने ले लिया। इसका कारण यह नहीं हैं कि संस्कृत भाषा अनुपयुक्त है। बात यह है कि बौद्ध-धर्म के सार्वजनिक भावों के लिये सार्वजनिक भाषा की जरूरत थी। इसी लिए प्राकृत का प्राबल्य हुआ। बौद्ध-धर्म का पतन होने पर संस्कृत-साहित्य का पुनरुद्भव हुआ, परन्तु शीघ्र ही उसका प्रचार अत्यन्त परिमित हो गया। हिंदी में जब तक भक्ति-वाद का प्राबल्य था तब तक ब्रज-भाषा का ही प्रचार

पिय प्यारे बिना यह माधुरी मूरति
औरन को अब देखिए का।
सुख छांड़ि के सङ्गम को तुम्हारे
इन लच्छन को अब लेखिए का।
हरिचन्द जू हीरन को व्यवहार कै
कांचन को लै परेखिए का।
जिन आंखिन में तुव रूप रस्यो
उन आखिन सों अब देखिए का।

एक ही पद्य में उन्होंने नेत्र, हृदय और बुद्धि से प्राप्त सौन्दर्य का समावेश बड़ी कुशलता से कर दिया है—

उमड़ि उमड़ि दृग रोवत अधीर भये
मुख द्युति पीरी परी विरह महाभरी।
हरीचन्द प्रेममाती मनहु गुनावी करी
काम ज्वर बाँवरी सी द्युति तनु की करी।
प्रेम कारीगर के अनेक रंग देखो यह
जोगिया सजाये बाल विरह तर खरी।
आँखिन में सावरो हिये में बस लाल यह
बार बार मुखतें पुकारत हरी हरी।

उन्होंने प्रेम [illegible] मुग्धावस्था का भी वर्णन [illegible] से किया है-

का मोह-जाल बनाते रहते हैं। जो बातें वे कह रहे हैं, जिन भावों को वे प्रकट कर रहे हैं, वे उनके हृदय के भाव नहीं हैं। उनको उन्होंने अपने ऊपर आरोपित कर लिया है। ब्रज-साहित्य में जिस कल्पना का प्राधान्य था उसका आधार अनुभूति है। परन्तु इस नव-युग के प्रेम-साहित्य में अनुभूति नहीं है, भावों का आरोपण ही प्रबल होगया है। कोई भी कवि अपने नायक या नायिका का यथार्थ रूप नहीं देख सका है और न उसका अनुभव ही कर सका है। परन्तु इतना कोई भी कह सकता है कि उस रूप ने कवियों की हृत्तन्त्री के तार हिला दिये हैं। उससे कभी नीरव गान उत्थित हो रहा है और कभी प्रबल उच्छ्वास फूट रहा है। सब अनन्त और अज्ञेय की ओर दौड़े जा रहे हैं। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि है उनमें एक कृत्रिम भावुकता-मात्र।

[२]

आधुनिक युग के प्रवर्तक भारतेन्दु जी ने अपने सम्बन्ध में लिखा है—

> सेवक गुनी जन के चाकर चतुर के हैं
> कविन के मीत चित हित गुन गानी के।
> सीधन सौं सीधे महा बाँके हम बांकेन सौं
> हरीचन्द नगद दमाद अभिमानी के।
> चाहिवे की चाह काहू की न परवाह नेही
> नेह के दिवाने सदा सूरत निवानी के।
> सरवस रसिक सुदास दास प्रेमिन के
> सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधारानी के।

यह भाव उनकी रचनाओं में भी प्रत्यक्ष है। ब्रज-साहित्य में पहले जिस रूप की प्राप्ति के लिए व्यग्रता थी, वह भारतेन्दु जी की रचनाओं में विद्यमान है।

जिय पै जु होइ अधिकार तो बिचार कीजै
लोक लाज भलो बुरो भले निरधारिए।
नैन श्रौन कर पग सबै परबस भये
उतै चलि जात इन्हैं कैसे के सम्हारिए।
हरी चन्द भई सब भाँति सों पराई हम
इन्हैं ज्ञान कहि कहो कैसे के निवारिए।
मन मैं रहै जो ताहि दीजिए बिसारि मन
आपै बसै जामें ताहि कैसे के बिसारिए॥

भूली सो भ्रमी सी चौंकी जकीसी थकी सी गोपी
दुखी सी रहति कछु नाहिं सुधि देह की।
मोहीसी लुभाई कछु मोदक से खाये सदा
बिसरी सी रहे नेक खबर न गेहकी।
रिस भरी रहै कबौं फूली न समाति अंग
हसि हंसि कहै बात अधिक उनेह की।
पूछे ते खिसानी होय उत्तर न आवै तोहि
जानी हम जानी है निसानी या सनेह की।

भारतेन्दु जी ने देश की वर्तमान अवस्था पर भी रचनाएँ की है पर उन रचनाओं में उनकी कवित्व-कला नहीं देखी जाती। यही बात आधुनिक युग के अन्य कितने ही कवियों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। उसका कारण यह है कि उनके हृदय पर व्रज-साहित्य का ही प्रभाव पड़ा था। उनका हृदय देश के प्रेम से नहीं रंग गया था। वे केवल देश की महत्ता समझने लगे थे। बदरी नरायन चौधरी की भारत-वन्दना में वह कवित्व-रस नहीं है जो उनकी निम्नलिखित युक्ति में है—

सम्पत्ति सुजस का न अन्त है विचारि देखा
तिसके लिए क्यों सोक-सिन्धु अवगाहिए।
लोभ की ललक में अभिमानियों के तुच्छ
तेवरों को देख उन्हें संकित सराहिए।
दीन गुनी सज्जनों से निपट विनीत बने
प्रेम धन नित्य नाते नेह के निवाहिए।
राग रोप औरों से न हानि लाभ कछु वसी
नन्द के किसोर की कृपा की कोर चाहिए।

नाथूराम शङ्कर शर्मा जी ने खड़ी बोली में कवितायें लिख ख्याति अर्जन की है। समाज के सम्बन्ध में उन्होंने जितनी कवितायें लिखी हैं उनमें कठोर तिरस्कार है, ग्लानि है, आक्षेप है। उनकी रचना में सर्वत्र एक प्रकार की उद्दण्डता, निर्भीकता है। शङ्कर जी अपनी रचना में भाषा को खींच लाते हैं, उसके पीछे दौड़ते नहीं। वे अलङ्कारों का जमघट लगा देते हैं। जो परीक्षक होगा वही बतावेगा कि कौन पुराने रत्न हैं और कौन नए। शङ्कर जी को इसकी परवा नहीं—

ताकत ही तेज न रहैगो तेजधारिन में
मङ्गल मयङ्क मन्द पीले पड़ जायेंगे।
मीन बिन मारे मर जायेंगे तड़ागन में
डूब डूब शङ्कर सरोज सड़ जायेंगे।
खायगो कराल काल केहरी कुरंगन को
सारे खजरीटन के पङ्ख झड़ जायेंगे।
तेरी अंखियान सों लड़ेंगे अब और कौन
केवल अड़ीले दृग मेरे अड़ जायेंगे॥

कञ्ज के पुञ्ज पर दीप शिखा सोती है कि
श्याम घन मण्डल में दामिनी की धारा है।
यामिनी के अङ्क में कलाधर की कोर है कि
राहु के कबन्ध पै कराल केतु तारा है।
शङ्कर कसौटी पर कञ्चन की लीक है कि
तेज ने तिमिर के हिये में तीर मारा है।
काली पाटियों के बीच मोहनी की मांग है कि
ढाल पर खाड़ा कामदेव का दुधारा है॥

शङ्कर नदी नद नदीशन के नीरन की
भाप बन अम्बर ते ऊंची चढ़ जायगी।
दोनों ध्रुव छोरन लौं पल में पिघल कर
घूम घूम धरनी धुरी सी बढ़ जायगी।
झारेंगे अंगारे ये तरनि तार तारापति
जारेंगे खमण्डल में आग मढ़ जायगी।
काहू विधि विधि की बनावट बचेगी नाहिं
जो पै वा वियोगिनी की आह कढ़ जायगी॥

जगन्नाथ प्रसाद भानु ब्रज साहित्य के अनुयायी हैं—

गावत गनानन सकुचि एक आनन तें
जात चतुरानन हू बैठि बस लाज के।
मौन गहि रहे शम्भु कहि पञ्च आनन तें
भाषत षडानन ना साधु है समाज के।
कहो पुनि कौन विधि गाइये गुणानुवाद
भानु लघु आनन तें देव सिरताज के।
शेष जब गावैं सहसानन तें तौ हू गुन
गाये ना सिरात ब्रजराज महाराज के।

बाबू [illegible] की ब्रज-भाषा में कही हुई यह उक्ति पढ़िए—

भूलि भूलि आप पर कबहुँ विचारो कहौ
ऐसो मोह मूढ़ मति छोड़ी है हमारी क्यों।
भाग के घनेरे काम क्रोध सिन्धु सागर में
मनको हमारे ऐसी गति निहारी क्यों।
भूले जग जोगन में दौरि के रमत नेह
साँचे सच्चिदानन्द में प्रेम ना सुधारी क्यों।
विकल विलोकत न हिय पीर मोचत हो
बड़ो दीनबन्धु दीन-बन्धुता बिसारी क्यों।

[२]

खड़ी बोली में कविता का जो आदर्श है वह ब्रज-भाषा के आदर्श से सर्वथा भिन्न है। यह बात बतलाने के लिए ऊपर ब्रज-भाषा में आधुनिक कवियों की कुछ रचनायें दी गई हैं। हम पहले ही कह आये हैं कि आधुनिक युग की भावनाओं का अयोध्यासिंह उपाध्याय और मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी रचनाओं में प्रतिबिम्बित किया है।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं में खड़ी बोली की कविताओं ने एक स्थिर रूप प्राप्त कर लिया है। उनमें कोमलता है, मधुरता है, सरलता है और गंभीरता भी है। अपने इन्हीं गुणों के कारण उनकी रचनायें लोक प्रिय भी हुईं। गुप्त जी में अभाव है सृजन-शक्ति का। उन्होंने खड़ी बोली की कविता के लिए उपयुक्त भाषा अवश्य बना दी, उन्होंने खड़ी बोली में साहित्य के आदर्श भी निश्चित कर दिए, पर

उनमें उच्चकोटि की कल्पना-शक्ति नहीं है। यदि उनमें यह शक्ति होती तो आधुनिक युग के सर्व-श्रेष्ठ कवि वेही होते।

कवि स्वयं एक मनुष्य है। अन्य मनुष्यों की तरह वह भी अपने युग की सन्तान है। परन्तु अन्य लोगों से जो उसे पृथक करती है वह है उसकी आत्मानुभूति। वह अनुभूति उसकी कृति को एक विशेष रूप देती है। वही उसमें विलक्षणता लाती है। जब पहले पहल बोल-चाल की भाषा में कवितायें निकलने लगीं तब अपनी नवीनता के कारण वे थोड़े ही दिनों में लोकप्रिय होगईं। उनमें केवल भाषा की ही नवीनता नहीं थी, भावों की भी नवीनता थी। बोल-चाल की भाषा में कविता लिखने वाले कवियों ने उन्हीं विषयों का वर्णन किया जिनका समाज से अधिक सम्पर्क था। जो भाव देश के लोगों में फैल रहे थे उन्हीं भावों को उन्होंने कविता का रूप दे दिया। उनकी कृतियों में कल्पना कम है, यथार्थ चित्रण ही अधिक है। प्राकृतिक सौन्दर्य के वर्णन में उन्होंने कल्पना से काम नहीं लिया। ग्रीष्म की उष्ण पवन का उत्ताप देखकर उन्होंने विलासियों के विलास-भवन की कल्पना नहीं की। अधिकांश लोगों को जो कष्ट होता है उसी का चित्र उन्होंने अंकित किया। हिन्दी के पाठक ब्रज-भाषा की कल्पना-विभूति से परिचित थे उनके लिए यह चित्र नया था। उसमें ब्रज भाषा की माधुरी नहीं थी, न वह विलास-चित्र था और न वह भाषा-लालित्य। उसमें वही बातें थीं जिन्हें हम प्रतिदिन देखते और सुनते हैं। अतएव उनमें रसिकों के मनोविनोद की सामग्री होने पर भी जन-साधारण की भावना उन्हीं की स्वाभाविक भाषा में थी। पर इतने से ही लोगों का सन्तोष नहीं हो सकता। इसलिए

की भाषा के कवियों ने उन्हीं विषयों पर रचना की है जिनका विशेष सम्बन्ध जनता के साथ था। परंतु क्या वे जनता के सच्चे प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं? क्या उनकी कृतियों में देश के भावों का उच्चतम विकास हुआ है? जब कवियों की रचनाओं में समस्त देश की आत्मा फूट पड़ती है, जब उनके स्वर में देश की उच्चतम आकांक्षा की ध्वनि निकलती है, जब उनकी कृति में देश का आह्वान रहता है, तभी वे सच्चे कवि कहला सकते हैं। जिनकी अनुभूति व्यापक रहती है वही देश को अपना सकते हैं। शक्ति के अभाव से यथार्थ अनुभूति न होने के कारण ऐसे कवियों के भाव विकृत हो जाते हैं। देशाभिमान दम्भ हो जाता है। वे अपने भावों की न्यूनता को शब्दों के जाल में छिपाने की चेष्टा करते हैं। अनुभूति का स्थान आवेश ले लेता है। भूषण की कृतियों में यही दोष है। इसी से वे राष्ट्र के कवि नहीं कहे जा सकते। हिन्दी के आधुनिक कवियों की रचनाओं में तो उनका आत्म-अभिमान प्रकट हो जाता है। उन्होंने राष्ट्र का अनुभव ही नहीं किया है। आधुनिक युग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें पूर्व का पश्चिम से सम्मिलन हुआ है। पाश्चात्य सभ्यता के संघर्ष से भारतीय आदर्शों पर बड़ा आघात [illegible]

काँपते सब देवते आतंक से हैं रात दिन।
मोम करता है उसे, है जोकि पत्थर से कठिन ॥३॥

देखते हैं राज पाकर हम जिसे करते विहार।
माँगता फिरता रहा कल भीख वह कर को पसार ॥
एक टुकड़े के लिये जो घूमता था द्वार द्वार।
आज धरती है कँपाती उसके धौंसे की धुकार ॥
नित्य ऐसी सैकड़ों लीला किया करता है वह।
रंक करता है, कभी सिर पर मुकुट धरता है वह ॥४॥

जिस अँधेरे को नहीं करता कभी सूरज शमन।
उस अँधेरे को सदा करता है वह पल में दमन ॥
भूल करके भी किसी का है जहाँ जाता न मन।
वह बिना आयास के करता वहाँ भी है गमन ॥
देवतों के ध्यान में भी जो नहीं आता कभी।
उस खेलाड़ी के लिये हस्तामलक है वह सभी ॥५॥

जगमगाती व्योम-मंडल की विविध तारावली।
फूल, फल, सब रंग के खिलती हुई सुन्दर कली ॥
सब तरह के पेड उनकी पत्तियाँ साँचे ढली।
रँग बिरंगे पंख की चिड़ियाँ प्रकृति-हाथों पली ॥
आँखवाले के हृदय में हैं बिठा देती यही।
इन अनूठे विश्व-चित्रों का चितेरा है वही ॥६॥

देख जो पाया अरोरावोरिएलिस का समा।
रंग जिसकी आँख में है मेघमाला का जमा ॥
जो समझ ले व्यूह तारों का अधर में है थमा।
जो लखे सब कुछ लिये है घूमती सारी क्षमा ॥
कुछ लगाता है वही करतूत का उसकी पता।
भाव कुछ उसके गुणों का है वही सकता बता ॥७॥

मेंहँदी

तुमने पैरों में लगाई मेंहँदी । मेरी आँखों में समाई मेंहँदी ॥
सूनी होते हैं जगत के सब्ज़ रंग । दे रही है यह दोहाई मेंहँदी ॥
कुल से छूटी कूट कर पीसी गई । तब तेरे पद छूने पाई मेंहँदी ॥
कष्ट से मिलता है जग में इष्ट पद । बात यह सबों बताई मेंहँदी ॥
वैर कहता है कलेजा देके नित । मैंने है राती बनाई मेंहँदी ॥
है कथन मेरा मेरे अनुराग से । लेगई है कुछ ललाई मेंहँदी ॥
माई के लालों से यह लाली मिली । इस से ढाँपे है ललाई मेंहँदी ॥
वस्तु सगनी की सुरक्षित ही रहे । दिल में रखती है ललाई मेंहँदी ॥
नील नभ में ज्यों छिपी ऊषा रहे । त्यों छिपाती है ललाई मेंहँदी ॥
प्रात संध्या से तुम्हारे पैर पा । व्यक्त करती है ललाई मेंहँदी ॥
रागमय जन अंग हैं श्रृङ्गार के । यह प्रगट देती दोहाई मेंहँदी ॥
दिल में रखना चाहिये अनुराग को । सीख देती है सोहाई मेंहँदी ॥
मेरी प्यारी के युगल चरणों के साथ । रखती है गाढ़ी सगाई मेंहँदी ॥
पैर पड़ पड़ कर पकड़ लेती है हाथ । छल में बामन से सवाई मेंहँदी ॥

भगवानदीन

भक्त की अभिलाषा

तू है गगन विस्तीर्ण तो मैं एक तारा क्षुद्र हूँ,
तू है महासागर अगम मैं एक धारा क्षुद्र हूँ ।
तू है महानद तुल्य तो मैं एक बूँद समान हूँ,
तू है मनोहर गीत तो मैं एक उसकी तान हूँ ॥१॥
तू है सुखद ऋतुराज तो मैं एक छोटा फूल हूँ,
तू है अगर दक्षिण पवन तो मैं कुसुम की धूल हूँ ।
तू है सरोवर अमल तो मैं एक उसका मीन हूँ,
तू है पिता तो पुत्र मैं तव अङ्क में आसीन हूँ

जग यात्रा में पड़ने होंगे, कभी कभी दुख भार चमेली।
डाँट डपट से मन घबराना, यह भी उसका प्यार चमेली ॥४॥
छिन्न भिन्न डालों का होना, अपने ही हित जान चमेली।
हरे हरे पत्ते निकलेंगे, सुमनों के सामान चमेली ॥५॥
भ्रमर मोर गुञ्जार करेंगे, तुझमें हास विलास चमेली।
दिग्दिगन्त सुरभित होवेगा, पाकर सुखद सुवास चमेली ॥६॥
अटल नियम को भूल न जाना, जग में सबका नाश चमेली।
अस्तु अंशुमाली भी होता, घूम अखिल आकाश चमेली ॥७॥

—मन्नन द्विवेदी

मातृभूमि

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
सूर्य-चन्द्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मण्डन हैं,
बन्दीजन खगवृन्द, शेष-फन सिंहासन है।
करते अभिषेक पयोद हैं बलिहारी इस वेष की,
हे मातृभूमि! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की ॥१॥
मृतक समान अशक्त विवश आँखों को मीचे,
गिरता हुआ विलोक गर्भ से हमको नीचे।
करके जिसने कृपा हमें अवलम्ब दिया था,
लेकर अपने अतुल अङ्क में त्राण किया था।
जो जननी का भी सर्वदा थी पालन करती रही,
तू क्यों न हमारी पूज्य हो मातृभूमि, मातामही! ॥२॥
जिसकी रज में लोट लोट कर बड़े हुए हैं,
घुटनों के बल सरक सरक कर खड़े हुए हैं।
परमहंस—सम बाल्यकाल में सब सुख पाये,
जिसके कारण "धूल भरे हीरे" कहलाये।

(१)

वह छवि

करते निवास छवि-धाम घनश्याम-भृङ्ग,
उर कलियों में सदा ब्रज-नर-नारी की।
कण-कण में हैं यहाँ व्याप्त दृग-सुखकारी,
मञ्जु मनोहारी मूर्ति मञ्जुल मुरारी की।
जिसको नहीं है सुध आती अनायास यहाँ,
गोवर्धन देखकर गोवर्धन—धारी की?
न्यारी तीन लोक से है प्यारी जन्म-भूमि यही,
जन-मन-हारी वृन्दा-विपिन-विहारी की।

(२)

अङ्कित ब्रजेश की छटा है सब ठौर यहाँ,
लता-द्रुम वल्लियों में और फूल फूल में।
भूमि ही यहाँ की सब काल बतला सी रही,
ग्वाल-बाल सङ्ग वह लोटे इस धूल में।
कलकल-रूप में है वंशी-रव गूँज रहा,
जाके सुनो कलित कलिन्दजा के कूल में।
ग्राम ग्राम धाम धाम में हैं घनश्याम यहाँ,
किन्तु वे छिपे हैं मञ्जु मानस-दुकूल में।

गोपालशरणसिंह

गूढ़ाशय

स्वर्ण-सुमन देकर न मुझे जब,
तुमने उसको फेंक दिया;
होकर क्रुद्ध हृदय अपना तब,
मैं ने तुम से हटा लिया।
सोचा—मैं उपवन में जाकर,
सुमन इन्हें दिखलाऊँ लाकर।
मैं ने जल्दी चित्त लगाकर,
कण्टक-वेष्टन पार किया।
स्वर्ण-सुमन देकर न मुझे जब,
तुमने उसको फेंक दिया।
उपवन-भर के श्रेष्ठ सुमन सब,
जाकर तोड़ लिये सहसा जब,
समझ तुम्हारा गूढ़ाशय तब,
हुआ विशेष कृतज्ञ हिया।
स्वर्ण-सुमन देकर न मुझे जब,
तुमने उसको फेंक दिया।

सियाराम शरण गुप्त

वर्तमान हिन्दी-साहित्य के सम्बन्ध में विद्वानों की उच्च धारणा नहीं है। अधिकांश विद्वानों की राय है कि "हिन्दी में जो कुछ उत्तम साहित्य के नाम से भूषित होने के योग्य है वह सब प्राचीन है। प्राचीनता की ओर साहित्यज्ञों का सदैव अनुराग रहता है। नवीनता की ओर वे सदैव संशयालु भी रहते हैं। एक बात और है।

का केवल गौरव ही अवशिष्ट रहता है। जो क्षुद्रता होती है उसे काल नष्ट कर देता है। यही कारण है कि अतीत से तुलना करने पर हमें वर्तमान गौरव-पूर्ण प्रतीत नहीं होता। आधुनिक साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता है उसका आदर्श। वह आदर्श है मनुष्यत्व की विजय, स्वाधीनता और देश-प्रेम। कला में व्यक्तित्व की प्रधानता होगई है। आधुनिक साहित्य में जो भाव-वैचित्र्य है उसका कारण यही है। शब्दों की योजना और छन्दों के विन्यास में भी वैचित्र्य है। साहित्य-शास्त्र का क्षेत्र अब अधिक व्यापक हो रहा है। आधुनिक साहित्य के विषय में अभी कोई निश्चित सम्मति तो नहीं दी जा सकती पर यह निस्सङ्कोच कहा जा सकता है कि उसमें स्थायित्व-गुण है। अभी तो हमारी कामना यही है कि हिन्दी राष्ट्र-भाषा हो, देश के लिए आदर की वस्तु हो—

भगवान भारतवर्ष में गूंजे हमारी भारती।

श्रीकमलाकर पाठक द्वारा कर्मवीर प्रेस, जबलपुर, में मुद्रित।